रेखाएँ और चित्र

[पहला भाग]

रेखाएँ और चित्र—अश्क जी के निबन्धों, आलोचनाओं और संस्मरणों का नवीनतम और प्रथम संग्रह है। यह संग्रह अश्क-साहित्य में ही नहीं, हिन्दी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

रेखाएँ और चित्र—में अश्क के समय-समय पर लिखे गये लगभग चालीस उत्तमोत्तम लेख संग्रहीत हैं। अश्क जिन सामाजिक सत्यों को अपनी भावभूमि के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं—उसी भावभूमि और विचार धारा को इस संग्रह के लेखों में वाणी मिली है। ललित साहित्य में जो दृष्टिकोण छिपा-छिपा चलता है, वह इन लेखों में मुखर हो उठा है।

रेखाएँ और चित्र—की मनोरंजकता इसलिए भी बढ़ जाती है कि इसमें अश्क ने समसामयिक समस्याओं—जैसे प्रगतिशील आन्दोलन, कथा-साहित्य में गतिरोध, हिन्दी-उर्दू समस्या आदि पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। न केवल यह, वरन् स्केच और संस्मरणात्मक निबंध भी इसमें संकलित हैं, जिनका हास्य-व्यंग्य अनूठा है और जिन्हें पहली बार इस संग्रह में संकलित किया गया है।

रेखाएँ और चित्र

उपेन्द्रनाथ अश्क

प्रथम संस्करण १९५५

मूल्य ४)

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद

मुद्रक
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स, ३ क्लाइव रोड, इलाहाबाद

क्रम

●

छः लेख

संस्मरण

निबन्ध, रिपोर्ताज

समीक्षा

लेखक

प्रकाशकीय

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क एक ख्याति प्राप्त उपन्यासकार, कथाकार, नाटककार एवं कवि ही नहीं, एक सिद्धहस्त निबन्धकार और सक्षम आलोचक भी हैं। उनके लेखों, संस्मरणों, रेखा-चित्रों और हास्य रस के निबंधों आदि फुटकर रचनाओं को एक जगह संकलित करने की आवश्यकता लगातार महसूस की जा रही थी। अब नीलाभ प्रकाशन ने एक योजना बनायी है, जिसके अन्तर्गत इन समस्त कृतियों को संकलित किया जा रहा है। **रेखाएँ और चित्र** का यह पहला भाग उस योजना का पहला कदम है।

रेखाएँ और चित्र—में कुछ बहुत पुराने लेख हैं, लेकिन अधिकांश नये हैं। पहले तीन बड़े लेख वस्तु की दृष्टि से बड़े महत्व-पूर्ण हैं। इन में अश्क जी ने सम-सामयिक समस्याओं—जैसे हिन्दी उर्दू प्रश्न, प्रगतिशील आन्दोलन, कथा साहित्य में गतिरोध आदि पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट किये हैं। अश्क जी जिन सामाजिक सत्यों को अपनी भाव भूमि के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं, उसी भाव भूमि और विचार धारा को इस संग्रह के लेखों में वाणी मिली है। ललित साहित्य में जो दृष्टि कोण छिपा-छिपा चलता है, वह इन लेखों में मुखर हो उठा है।

अश्क जी के रेखा-चित्रों, संस्मरणों और हास्य-रस के निबन्धों ने संग्रह की मनोरंजकता को द्विगुणित कर दिया है।

प्रकाशक

छः लेख

हिन्दी-उर्दू-भाषी दोस्तों से

भाषा की समस्या से मेरा सम्बन्ध, और किसी नाते नहीं तो साहित्य के रिश्ते, लगभग २५ वर्ष से रहा है। मेरी मातृ-भाषा पंजाबी है, लेकिन प्राइमरी की शिक्षा मैंने उर्दू में पायी और छठी के बाद बी० ए० तक थोड़ी बहुत हिन्दी तथा संस्कृत सीखी। पहले दो-एक वर्ष पंजाबी में लिखता रहा फिर आठ-दस वर्ष उर्दू में। फिर दस वर्ष दोनों भाषाओं में और इधर कई कारणों से पाँच-छै वर्ष से केवल हिन्दी में। इस तरह साहित्यिक के नाते इस समस्या से मेरा गहरा सम्बन्ध रहा है।

इसी बीती हुई लगभग चौथाई सदी पर जब मैं नज़र डालता हूँ तो पाता हूँ कि इस समस्या के तीन रूप हैं।

- राजनीतिक
- जातीय
- साहित्यक

जहाँ तक पहले रूप का सम्बन्ध है, इस लम्बे अरसे में मैंने इसे कई पहलुओं से देखा है। उर्दू यहाँ की आम जनता की भाषा कभी नहीं रही।

दोस्त सवाल करते हैं कि अगर उर्दू यहाँ की जनता की भाषा नहीं तो यह कहाँ से आयी है ? किस देश में बोली जाती है और क्या यह सच नहीं कि इसके बहुत से शब्द हमारी जन-भाषाओं में भी मिलते हैं ? मैं भाषा-शास्त्री नहीं। दोनों पक्षों के भाषा-शास्त्री एक दूसरे के विपरीत बातें साबित कर देंगे। मुझे उर्दू-हिन्दी भाषा-शास्त्रियों की विद्वत्ता का खासा अनुभव है और मैंने अकसर उनकी बातें सुनी हैं। लेकिन सहज-ज्ञान ही से पता चल जायगा कि उर्दू भाषा ने जो रूप लिया, वह अधिकांशतः राजनीतिक कारणों से ही लिया है। देश के मुसलमान विजेता इस देश की भाषा न जानते थे। मुग़लों की राज-भाषा फ़ारसी थी। लेकिन सिपाहियों और राज-कर्मचारियों को सदा जनता के सम्पर्क में आना पड़ता था। इसलिए उनकी ज़रूरत के लिए, देशवासियों के चाहे-अनचाहे, इस भाषा का जन्म हुआ। यों कह लीजिए कि उस समय की ज़रूरत ही वैसी थी। हुक्मरानों को जनता से काम पड़ता था और जनता को हुक्मरानों से—और इसलिए इस भाषा ने जन्म लिया। यही बाद में अंग्रेज़ी के साथ-साथ उत्तर प्रदेश ही की नहीं, अन्य भाषा-भाषी प्रदेशों की भी राज-भाषा बनी। यह ठीक है कि इस भाषा के पौधे को हिन्दुओं ने भी सींचा है। लेकिन हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी को भी सींचा है और इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। यदि अंग्रेज़ी में गांधी और जवाहर लाल के लिखने के बावजूद देश वासी उसे विदेशी भाषा समझते रहे, तो विदेशी लिपि रखने, विदेश से शक्ति प्राप्त करने और हुक्मरानों द्वारा परवरिश पाने वाली इस भाषा को यहाँ के लोग, उन हिन्दू लेखकों के बावजूद, क्यों विदेशी नहीं समझ सकते ? अपने पक्ष पर अडिग उर्दू-भाषी दोस्तों को विपक्षियों की भावनाओं को समझने की कोशिश करनी चाहिए। यह सच है कि उर्दू ने क्रियाएँ आदि जनता की भाषा से लीं, लेकिन उसकी प्रगति जन-भाषा की ओर नहीं रही। यह उत्तरोत्तर अरबी और फ़ारसी से अपनी

शक्ति हासिल करती रही। इसके मुहावरे, इसकी उपमाएँ, इसके प्रतीक, इसके शेरों की रवायतें— सब हिन्दुस्तान के बाहर से आयीं। 'ग़ालिब' या 'इक़बाल' के एक-आध ऐसे शेर के मुकाबले में जहाँ देश की गंगा-जमुना, दिल्ली-कलकत्ते का ज़िक्र हो, 'दीवाने ग़ालिब' और 'बाले जबरील' से बीसों ऐसे शेर पेश किये जा सकते हैं, जिन्हें, अरब और फ़ारस के इतिहास और वहाँ की रवायतों को जाने बिना, इस देश के वासियों के लिए समझना तक मुश्किल है। इसीलिए उर्दू मध्य या उच्च वर्ग के भावों को चाहे व्यक्त कर पायी हो, लेकिन जनता की दैनिक समस्याएँ और भावनाएँ इसके माध्यम से कम ही व्यक्त हुईं। यह ठीक है कि भोजपुरी हो या मगही, अवधी हो या कौरवी, बुन्देलखण्डी हो या छत्तीसगढ़ी— सभी भाषाओं में कुछ-न-कुछ उर्दू के शब्द मिल जायेंगे, लेकिन देखना तो यह है कि उन सब भाषाओं का सार उनके मुहावरे, उनकी उपमाएँ और उनके प्रतीक उर्दू में आये या नहीं! निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो कहना होगा कि नहीं आये! उर्दू द्वारा अरबी-फ़ारसी से आने वाले मुहावरे जनता ने अपना लिये, लेकिन जनता के मुहावरे, उपमाएँ और प्रतीक इस भाषा ने नहीं अपनाये। इस दृष्टि से हिन्दी, उर्दू के मुकाबले में, जनता के निकट रही और उसकी नींव इन्हीं बोलियों की ईंटों पर खड़ी हुई।

न केवल यह, बल्कि हिन्दुस्तान की अधिकांश भाषाओं के स्रोत— संस्कृत भाषा— से बहुत दूर चले जाने के कारण, उर्दू हिन्दुस्तान की अन्य प्रान्तीय भाषाओं से भी बहुत दूर चली गयी। किसी ज़माने में हम समझते थे कि उर्दू सारे देश की भाषा है, लेकिन इधर महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण के दौरे करने पर मैंने जाना कि यह हमारा भ्रम ही था। ये भाषाएँ संस्कृत से जन्म लेने के कारण उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के ज़्यादा निकट हैं। हो सकता है कि उनमें भी ढूँढ़ने पर उर्दू फ़ारसी के काफ़ी शब्द मिल जायँ, लेकिन इस तरह अंग्रेज़ी के भी

बेशुमार शब्द उनमें ही नहीं, क्षेत्रीय बोलियों तक में मिल जायँगे। हिन्दी जिस तरह उनमें से अधिकांश के निकट है, वैसे उर्दू नहीं।

और यों, न केवल लिपि की दृष्टि से, बल्कि मुहावरों, उपमाओं और प्रतीकों की दृष्टि से भी हिन्दी के मुकाबले में उर्दू विदेशी पड़ जाती है। देश की भाषाओं के उपवन में उर्दू की स्थिति अमर बेल की सी है—ऐसी अमर बेल की सी, जो जंगल की हरियाली का अंग तो होती है; वृक्षों के पत्तों पर लेटी हुई, ऊपर ही ऊपर, एक से दूसरे तक पहुँचती हुई, आँखों को सुन्दर और मन को लुभावनी तो लगती है; जो विभिन्न पेड़ों की डालियों और पत्तों का अंग तो मालूम होती है, लेकिन इसके बावजूद जो उन पेड़-पौधों की तरह जंगल की धरती से अपनी खूराक नहीं लेती।

यहाँ उर्दू भाषा के सौन्दर्य, उसकी लचक, उसके पॉलिश से इनकार नहीं, सवाल सिर्फ़ यह है कि इस भाषा की जड़ें और इसकी शक्ति का स्रोत इस धरती में है या नहीं? ग़ालिब और इक़बाल की महानता से इनकार नहीं, लेकिन यह भी सच है कि उनकी शायरी के लगभग सारे प्रतीक अरब और फारस की फ़िज़ा में साँस लेते हैं। और यदि हमारे साधारण देशवासी सूर, तुलसी, कबीर और बृन्द के मुकाबले में उनके साथ अपने मन की भावनाओं का सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते तो यह उनका दोष नहीं। विजेताओं के मनमें सहज ही जन-भाषा और जन-भावों के प्रति घृणा होती है। अंगरेज़ी के मुकाबले में प्रादेशिक बोलियाँ ही नहीं, हिन्दी-उर्दू तक गँवार भाषाएँ समझी जाती रही हैं। और हिन्दी-उर्दू का प्रेस अतीव घृणा-सूचक शब्दों में गटर-प्रेस† कहलाता रहा है। इस सूरत में यह स्वाभाविक ही था कि इंशा-अल्ला खाँ की भाषा—जो देश की भाषा के निकट थी, मतरूकात* के

† Gutter Press; * त्याज्य-शब्द-प्रणाली।

द्वारा धीरे-धीरे उससे बहुत दूर चली गयी, यहाँ तक कि इस देश की मिट्टी से अपनी खूराक तक लेना उसने छोड़ दिया।

अंग्रेज़ों ने आकर जहाँ अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम और राज-भाषा बनाया, वहाँ उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा दिया। इसलिए नहीं कि यह जनभाषा थी, बल्कि इसलिए कि हुक्मरानों द्वारा यही भाषा पोषित थी और सरकारी काम चलाने के लिए इसी में उन्हें आसानी थी। बाद में जब हिन्दी भी बढ़ने लगी तो अंग्रेज़ों ने कूटनीति से उर्दू को हिन्दू-मुसलमानों के दरम्यान एक दीवार के रूप में खड़ा कर दिया। यदि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में सत्ताशाली होने पर भाषावार प्रान्तों का संगठन करते और विभिन्न प्रान्तों में वहीं की प्रान्तीय भाषाओं को शिक्षा अथवा राजकाज की भाषा का माध्यम बनाते तो हिन्दू मुसलमान का झगड़ा कभी पैदा न होता। क्योंकि जैसे पंजाबी मुसलमान घर में पंजाबी बोलता है, वैसे ही ब्रजवासी या भोजपुरिया घर गाँव में उर्दू में नहीं, अपनी ही बोली में बात करता है। वैसी सूरत में पंजाबी, मैथिली, राजस्थानी आदि का प्रश्न तो आता, लेकिन हिन्दू मुसलमान का प्रश्न कभी न उठता, इसका कारण चाहे मुसलमानों की इच्छा पर निर्भर न रहा हो और चाहे अंग्रेज़ों की ही कूटनीति से ऐसा हुआ हो, लेकिन उर्दू ने यह साम्प्रदायिक रोल अदा किया है। उर्दू-भाषी इसे न मानें, पर उत्तर प्रदेश की बहुसंख्यक जनता ऐसा ही मानती है। आज उर्दू-भाषा-भाषी उर्दू के लिए जिस अधिकार की माँग करते हैं, यदि हिन्दी को उन्होंने उर्दू के साथ वही अधिकार दिया होता, या कम से कम ज़ोरों से उसका पक्ष ही लिया होता तो आज उन्हें कभी इस मुतालिबे की ज़रूरत न पड़ती। इन्हीं सब कारणों से अगर सारे देश की बहुसंख्यक जनता या उस प्रदेश की अधिकांश जनता, जहाँ कि वे उर्दू के लिए समानाधिकार चाहते हैं, इसके खिलाफ़ है तो समझदार को इसमें शिकायत न होनी चाहिए।

मैं पंजाबी हूँ और उर्दू-हिन्दी के समान प्रेमी के तौर पर कह सकता हूँ कि यदि पंजाब के दो टुकड़े हुए तो उसमें हिन्दू मुसलमान का उतना नहीं, जितना इस भाषा के प्रश्न का हाथ रहा है। उन स्कूलों में जिनको सरकारी सहायता मिलती थी, बरबस उर्दू को प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम बनाया गया, जो स्थान पंजाबी को मिलना चाहिए था, वह क्या सरकारी दफ़्तर और क्या कचहरी, जनता की इच्छा के खिलाफ़ भी उर्दू को दिया गया। प्रतिक्रिया के रूप में पंजाबी नहीं, हिन्दी ने ग़ैर-सरकारी स्कूलों में आधिपत्य जमाया। हिन्दू छात्रों को घरों में पंजाबी बोलना और स्कूलों में उर्दू-हिन्दी सीखना पड़ा। जिससे न केवल यह हुआ कि उनकी मातृभाषा को नुकसान पहुँचा, बल्कि यह कि न वे अच्छी तरह हिन्दी सीख सके, न उर्दू और पंजाबी भाषा पर उर्दू के अत्याचार की जगह अब वहाँ हिन्दी के अत्याचार ने लेली और पंजाबी आज भी अपनी सत्ता के लिए छटपटा रही है।

उर्दू-भाषा-भाषी—कृष्ण चन्द्र, राजेन्द्र सिंह बेदी, मंटो, महेन्द्र, रहबर, बलवन्त सिंह, गुरबचन सिंह और दूसरे दसियों लेखकों का नाम गिनवाते हैं, यह सिद्ध करने के लिए कि मुसलमानों ही ने नहीं, हिन्दू और सिक्खों ने भी उर्दू के चमन में गुल-बूटे लगाये हैं, लेकिन पंजाबियों के मन में इन्हीं लेखकों को देखकर टीस उठती है कि अगर पंजाबी भाषा को उसका उचित स्थान दिया जाता तो ये लेखक दुनिया के साहित्य-क्षेत्र में आज पंजाबी का सिर बुलन्द करते। कृष्ण या बेदी की बात छोड़िए, खुद सआदत हसन मंटो हमेशा पंजाबी में लिखने के लिए छटपटाते रहे।

प्रान्तीय कचहरियों, स्कूलों और सरकारी दफ़्तरों ही में नहीं, बल्कि आल इंडिया रेडियो जैसी अखिल-भारतीय-संस्था में जिस तरह उर्दू को ज़बरदस्ती सारे देश पर लादा गया, वह किसी से छिपा नहीं। जब हिन्दी वाले शोर मचाते थे तो ख़बरों में कुछ हिन्दी शब्द रख दिये

जाते थे; मेरे जैसे किसी दो-भाषा-भाषी को हिन्दी एडवाइज़र के रूप में रख लिया जाता था; कुछ एक हिन्दी तक़रीरें रेडियो पर ब्रॉडकास्ट हो जाती थीं; लेकिन आन्दोलन के मन्द पड़ने पर हिन्दी एडवाइज़र बैठे मक्खियाँ मारा करते थे। मुझे इस स्थिति का व्यक्तिगत अनुभव है, क्योंकि मैं इसी झगड़े में साल भर मुफ़्त तनख्वाह पाता रहा और इसी झगड़े में मुझे रेडियो से त्यागपत्र देना पड़ा।

उस ज़माने में हिन्दी वालों के शोर मचाने पर यह कहा जाता था कि उर्दू हिन्दी में कुछ फ़र्क नहीं; कि हिन्दी उर्दू ही की एक शैली है; या यह कि हिन्दी उर्दू के स्थान पर हिन्दुस्तानी का प्रचार रेडियो को अभीष्ट है। हिन्दी वालों को चुप कराने के लिए ही हिन्दुस्तानी का आन्दोलन भी शुरू किया गया और एक अनगढ़, अप्राकृतिक भाषा बनायी जाने लगी। जिसमें इतने वर्षों के आन्दोलन के बाद भी कोई साहित्य पैदा नहीं हो सका। इसलिए नहीं कि सरल भाषा का बनाना सम्भव नहीं, बल्कि इसलिए कि ऐसा तब तक नहीं हो सकता, जब तक दोनों ज़बानें एक लिपि में न लिखी जायँ, एक दूसरे में घुल मिल न जायँ और लिखने वालों के सामने दोनों के साझे शब्दों का सरमाया न हो। ऐसा न तब था, न अब है।

आज देश की राजनीतिक स्थिति बदलने पर उर्दू की जगह हिन्दी ने ले ली है और हिन्दी वाले सत्तारूढ़ होने पर बिलकुल वही दलीलें देने लगे हैं जो उर्दू वाले देते थे। जब मैं बड़े ज़ोरों में उन्हें यह कहते सुनता हूँ कि उर्दू तो हिन्दी ही की एक शैली है, उसकी अपनी निजी कोई सत्ता नहीं और आज आल इंडिया रेडियो में हिन्दी वाले वही कर रहे हैं जो उर्दू वाले कभी करते थे तो मुझे हँसी भी आ जाती है और दुख भी होता है। लेकिन प्रतिक्रिया का यह नियम है। यह स्वाभाविक भी है। अफ़सोस इस बात का है कि जिस प्रकार हिटलर को बुरा-भला कहने वाले पश्चिमी देश उसी के पद-चिन्हों पर चल रहे हैं, उसी तरह

उर्दू वालों को बुरा-भला कहने वाले हिन्दी-भाषी उन्हीं की नीति अपना रहे हैं। आज पंजाब ही में नहीं, दूसरे प्रान्तों में भी वहाँ के वासियों की इच्छा के खिलाफ़ हिन्दी को लादा जा रहा है। यह अफ़सोस और दुख का विषय है। हिन्दी संघ-भाषा है और संघ के विधान ने उसे यह पद दिया है। उसे वहाँ से कोई नहीं हटा सकता, लेकिन प्रादेशिक बोलियों को खत्म करके उनकी जगह लेने के बजाय, इसे उन्हीं के बल पर सशक्त और संपन्न होना चाहिए। ऐसा न होगा तो जैसे उर्दू यहाँ से पैदा होकर भी धीरे-धीरे विदेशी भाषा बन गयी, वैसे ही हिन्दी भी बन जायगी और जैसे उर्दू लिखते-पढ़ते हुए भी इस प्रदेश के लोग उस के खिलाफ़ हो गये, उसी तरह हिन्दी लिखते-पढ़ते हुए भी उन प्रदेशों के लोग हिन्दी के खिलाफ़ हो जायँगे।

राजनीतिक रूप से, मेरे विचार में, भाषा-समस्या का यही हल है कि हिन्दी संघ भाषा रहे। अंग्रेज़ी की जगह ले। हिन्दुस्तान को भाषावार प्रान्तों में बाँटा जाय, उन प्रान्तों में आरम्भिक शिक्षा उन प्रदेशों की बोलियों में दी जाय। पंचायतों और स्थानीय संस्थाओं का काम प्रादेशिक भाषाओं ही में चलाया जाय। उन भाषाओं को उन्नति और प्रगति के पूरे अवसर दिये जायँ। ऐसा न होगा तो जनता ज़ोर-ज़बरदस्ती यह करके रहेगी और निश्चय ही उसके रास्ते में आने वाले लोग, चाहे वे हिन्दी के हिमायती हों या उर्दू या अंग्रेज़ी के, उस ग़लती के भागी बनेंगे। आंध्र की खूँ-ख़राबी की पुनरावृत्ति बड़े पैमाने पर दूसरे प्रदेशों में होगी और जनता के इस रोष का नज़ला हिन्दी-भाषा-भाषियों पर गिरेगा।

जहाँ तक उर्दू का सम्बन्ध है, मत-गणना पर यदि वह किसी प्रदेश के अधिकांश लोगों की मातृभाषा ठहरे तो उस प्रदेश में उर्दू को स्थान दिया जाय। ज़बरदस्ती इसे किसी प्रदेश की राजभाषा बनाना वहाँ की बहुसंख्यक जनता को रुष्ट करना होगा। यह उर्दू और

उर्दू-भाषियों के हक़ में अच्छा न होगा, और साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देकर साम्प्रदायिक तत्वों के हाथ मज़बूत करने के बराबर होगा।

जहाँ तक इस समस्या के जातीय पहलू का ताल्लुक है, इसे मानने में संकोच न होना चाहिए कि उर्दू भाषा साझे कल्चर की नहीं, अधिकांशतः मुसलिम कल्चर की नुमाइंदगी करती रही। मैं जानता हूँ कि मेरी इस बात का प्रतिवाद कुछ मित्र बड़े ज़ोरों से करेंगे और इधर उर्दू भाषा में साझा प्रगतिशील साहित्य भी लिखा जाने लगा है, लेकिन हमें इस बात को तय करने के लिए एक आध उदाहरण ही नहीं, सारे के सारे उर्दू साहित्य को देखना होगा। इस दृष्टि से यह कथन सत्य की कसौटी पर पूरा उतरेगा। इसके मुकाबले में यह मानने में भी आपत्ति न होनी चाहिए कि हिन्दी आज हिन्दू कल्चर का प्रतीक बन गयी है और उसमें मुसलिम कल्चर ज़रा भी प्रतिबिम्बित नहीं। क्यों ऐसा हुआ, ऐसा न होना चाहिए था—इससे यहाँ बहस नहीं। ऐसा हुआ है। मुसलमान और अंग्रेज़ शासकों और उनकी कूटनीति की प्रतिक्रिया के स्वरूप उठने वाले आन्दोलनों के कारण ऐसा हुआ है, इससे किसी को इनकार न होना चाहिए। इसी स्थिति के कारण आज पंजाबी हिन्दू पंजाबी भाषा बोलते हुए भी हिन्दी को अपनी मातृभाषा लिखता है। जब कि वह हिन्दी जानता तक नहीं और उर्दू में अख़बार पढ़ता है। और भोजपुरिया मुसलमान जो उर्दू से नितान्त अनभिज्ञ है और घर-द्वार में सब काम भोजपुरी में चलाता है, दस्तख़त करते समय उर्दू के पक्ष में दस्तख़त करता है और कहता है कि उसकी मातृभाषा उर्दू है। उर्दू में लिखने वाले हिन्दू लेखकों की कमी नहीं और न हिन्दी के राष्ट्र भाषा बनने पर इसमें लिखने वाले मुसलमान लेखकों की कमी रहेगी, लेकिन इस समय स्थिति ऐसी ही है! और ये दोनों भाषाएँ दो संस्कृतियों की प्रतीक बन गयी हैं। अपवाद अथवा एक-आध अंश

को छोड़कर हमें इन भाषाओं के पूरे स्वरूप को देखना चाहिए। और ऐसा करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे।

इस बात को देखते हुए कि मुसलमान जाति इस भाषा को अपने कल्चर का प्रतीक मानती है, इसे बिलकुल खत्म कर देना घोर अन्याय होगा और वही प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगा जो उर्दू के विरुद्ध आम हिन्दुओं में हुई थी। इसलिए जो लोग उर्दू भाषा पढ़ना चाहते हैं, उनके लिए उसका साधन जुटाना राष्ट्र का पहला कर्तव्य है। उर्दू-भाषा-भाषियों को उर्दू के माध्यम से आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए, यदि मत-गणना करने पर कोई ऐसा प्रदेश न मिले, जहाँ की मातृ-भाषा उर्दू हो तो भी इस ख़याल से कि इस भाषा को हमारे देश की एक अहम जाति का स्नेह प्राप्त है और वह इसे अपने कल्चर की भाषा समझती है, इस भाषा की रक्षा होनी चाहिए। जिस श्रेणी में आठ-दस लड़के भी उर्दू पढ़ना चाहें उन्हें, इसकी सुविधा देनी चाहिए। जब हम संस्कृत फ़ारसी के दो-दो छात्रों के लिए पंडितों और प्रोफ़ेसरों की व्यवस्था कर सकते हैं तो उर्दू के लिए क्यों नहीं कर सकते?

रहा इस समस्या का साहित्यिक रूप, तो वह भी राजनीतिक या जातीय से कम महत्त्व-पूर्ण नहीं। यही वह रूप है, जो उर्दू की जातीय-हदों को लाँघ गया है। जिसके नष्ट होने से मुसलमान ही को नहीं, हिन्दू को भी दुख होता है। क्या हुआ और कैसे हुआ, यदि इसके ब्योरों में न जायँ, तो हम पाते हैं कि उर्दू भाषा एक बड़ी ही तरक्की-पसन्द मंजी, धुली और निखरी भाषा में प्रस्फुटित हो चुकी है। कारण कुछ भी क्यों न हो, अपनी इच्छा या अनिच्छा से वे ऐसा करने को बाधित हुए हों, लेकिन सच यह है कि मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने भी वर्षों अपने खूने-जिगर से इस के चमन की आबयारी की है। मुन्शी

प्रेमचन्द, चकबस्त, निगम, बर्क, फ़िराक और बिस्मिल ही नहीं, कृष्ण चन्द्र, राजेन्द्र सिंह बेदी, बलवन्त सिंह और महेन्द्र नाथ, जोश मल्सियानी, जगन्नाथ आज़ाद, और दूसरे बीसियों हिन्दू शायरों और अफ़साना नवीसों ने अपने ख़यालात को इसमें क़लमबन्द किया है और उनकी कृतियाँ हमारे साझे कल्चर और विरसे की मूल्यवान निधियाँ हैं। राजनीतिज्ञों और साम्प्रदायिकों के हाथों में खेलकर इस भाषा ने चाहे जो भी बुराई की हो, साहित्यिकों के हाथों में इसने देश की प्रगतिशील ताक़तों को आगे बढ़ाया है। इसे न मानना सच को न मानने के बराबर है। आज मेरे कुछ हिन्दी-भाषा-भाषी दोस्त बड़ी उपेक्षा से कहते हैं 'अरे अश्क भाई, उर्दू भी कोई भाषा है?' मुझे हँसी आ जाती है, क्योंकि वर्षों चिराग़ हसन 'हसरत', 'नून० मीम० राशिद और दूसरे पंजाबी उर्दू-दां दोस्तों से मैं सुनता रहा हूँ कि हिन्दी कोई भाषा नहीं। 'हसरत' साहब जब भी एकाध पैग चढ़ा लेते थे तो हमेशा कहा करते थे 'अजी अश्क साहब, हिन्दी भी कोई भाषा है।' हिन्दी का पक्ष लेकर मैं उनके साथ घंटों बहसें करता रहा हूँ, उन्हें पंत, महादेवी और बच्चन की कविताएँ सुनाता रहा हूँ, लेकिन नतीजा कभी कुछ नहीं निकला, क्योंकि सोते को तो जगाया जा सकता है, लेकिन जागते को कौन जगा सकता है? यही हाल मेरे उर्दू-विरोधी हिन्दी-भाषी मित्रों का है। पिछले दिनों एक बड़े ऊँचे पंडित और भाषा-शास्त्री ने 'इक़बाल' के शेर

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी यह गुलसिताँ हमारा॥

का मज़ाक उड़ाते हुए कहा कि जब बचपन में मौलवी साहब ने हमको यह शेर पढ़कर इसका मतलब समझाया तो हम चकरा गये, क्योंकि हमारे यहाँ बुलबुलें तो लड़ती हैं, छोकरे बटेरों की तरह उन्हें पालते और लड़ाते हैं। बुलबुल हज़ारदास्ताँ तो यहाँ होती नहीं कि बुलबुलों

के गाने का तसव्वुर हम कर सकते, हमने इस शेर का मतलब यह लगाया कि हिन्दुस्तान हमारा बाग़ है और हम इसकी लड़ने वाली बुलबुलें हैं। उन्होंने कहा कि जब हमने मौलवी साहब को यह अर्थ लगाकर बताया तो वे चुप हो गये और कोई जवाब न दे पाये।

इस घटना से दो बातें साफ़ होती हैं। पहली यह कि बाहर के प्रतीक किस प्रकार एक देश की जनता को अग्राह्य हो जाते हैं, संस्कृत से लेकर हिन्दी साहित्य में बुलबुल का वैसा ज़िक्र नहीं। हो सकता है, बुलबुलें इस देश में तब होती ही न हों और विजेताओं ही ने वहाँ से लाकर इन्हें यहाँ छोड़ दिया हो। जोभी हो, मैं इतना जानता हूँ कि मेरे कई युवा मित्र बुलबुलों और क़ुमरियों को देखे बिना उनके नग़मों का बखान करते रहे हैं और कोयलें व्यर्थ ही अपने तराने उनके कानों में उँडेलती रही हैं। दूसरी यह कि पक्षपात-पूर्ण मनोवृत्ति किस तरह दूसरी भाषा का रस लेने के आड़े आती है। बुलबुल हज़ारदास्तां हमारे यहाँ न सही, लेकिन जहाँ हैं, वहाँ वे गाती ही होंगी, लड़ती न होंगी, यह कैसे कहा जा सकता है? दो बुलबुलों को लड़ते और साथ ही ऊपर को एक साथ उड़ते हमने भी देखा है। लेकिन मौसम में, पेड़ की डालियों में छिपे हमने उनके नग़मे भी सुने हैं, वे नग़मे कोयल के से पंचम सुर न रखते हों, लेकिन सुनने वाले कानों के लिए वे कम मधुर नहीं और हमारे यहाँ की बुलबुलें लड़ती ही हैं, गाती या चहकती नहीं, यह हम नहीं कह सकते। बुलबुलों की जगह अगर 'चिड़ियाँ' भी वहाँ होता तो भी मतलब वही था। बात चहकने की है और हमारे यहाँ की चिड़ियाँ भी चहकती हैं, लेकिन जिसे सही या ग़लत तौर पर अपनी बात सिद्ध करनी हो, उसे कोई क्या कहे? हिन्दी के कठिन और मिश्रित शब्द उर्दू लिपि में अत्यन्त हास्यास्पद लगते हैं। उर्दू वालों ने किसी हिन्दी प्रस्ताव अथवा किसी हिन्दी वक्ता के भाषण को उर्दू लिपि में ग़लत- सलतलिखकर 'किन्तु परन्तु, अथवा और एवं' वाली इस भाषा का

प्रायः मज़ाक उड़ाया है। लेकिन न उर्दू वालों के उस प्रयास से हिन्दी निकृष्ट भाषा साबित हुई और मर गयी, और न हिन्दीवालों के इस प्रयास से उर्दू निकृष्ट भाषा साबित हो जायगी और मर जायगी। उर्दू वालों के इस पक्षपात का फल जैसे उन्हें भरपूर चुकाना पड़ा है, इसी तरह हिन्दी वालों के पक्षपात का फल उनको जल्द या देर भरपूर चुकाना पड़ेगा। हिन्दी को निकृष्ट साबित करने वाले चाहे उर्दू के महान शायर 'फ़िराक' गोरखपुरी हों या उर्दू को निकृष्ट और बेमसरिफ़ साबित करने वाले हिन्दी के भाषा-विश पंडित—दोनों घोर पक्षपात से काम लेते हैं और दोनों में दूसरी भाषा के, भिन्न संस्कार में लिखे गये साहित्य का रस ले सकने की घोर असमर्थता है।

मैं न केवल दोनों भाषाओं में लिखता हूँ, बल्कि दोनों का पाठक भी हूँ, ग़ालिब और इकबाल, जोश और फ़िराक़, राशिद और फ़ैज़, मजाज़ और जज़्बी, सरदार और कैफ़ी की ही कविताओं पर मैंने सिर नहीं धुना, बल्कि सूर, तुलसी, कबीर और वृन्द, मीरा और गिरधर, प्रसाद और निराला, पंत और महादेवी, बच्चन और सुमन की भी कविताओं में रस पाया है। 'फ़िराक' की तरह मैं सिर्फ़ उर्दू का ही शैदाई नहीं।

आज रहने दो यह गृह काज।
प्राण, रहने दो यह गृह काज॥
आज जाने कैसी वातास।
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास॥
प्रिये, लालस-सालस वातास।
जगा रोओं में सौ अभिलाष॥
आज उर के स्तर-स्तर में प्राण।
सजग सौ सौ स्मृतियाँ सुकुमार॥
दृगों में मधुर स्वप्न संसार।
मर्म में मदिर स्पृहा का भार॥

आज चंचल चंचल मन प्राण।
आज रे शिथिल शिथिल तन भार ॥
आज दो प्राणों का दिन मान।
आज संसार नहीं संसार ॥
आज क्या प्रिये सुहाती लाज ?
आज रहने दो सब गृह-काज ॥

घरेलू जीवन की एक-रसता में भी उमंग का चित्रण करने वाली पंत की ये पंक्तियाँ मुझे सदा भाती हैं : और

लाये कौन संदेश नये घन ?
अम्बर गर्वित,
हो आया नत !

'चिर निस्पन्द हृदय में उसके उमड़े री पुलकों के सावन !

महादेवी की इन दो पंक्तियों में उमड़े हुए आकाश और मन के पुलक का जो चित्रण है, वह मुझे सदा विभोर कर देता है। 'फ़िराक़' बड़े कवि हैं, लेकिन पक्षपात के कारण वे हिन्दी कविता के सौन्दर्य को नहीं देख सकते। वे बीसियों मुहावरे गिनवायेंगे, लेकिन सारी उर्दू शायरी में से ज़रा वे 'पुलकों के सावन' की सी तरकीब तो दिखायें। वे दस मुहावरे या दस शेर सुनाकर चाहते हैं कि उनके मुक़ाबले की चीज़ हिन्दी में दिखायी जाय, मैं एक के बाद एक दोहा या छंद, या चरण पेशकर पूछूँगा कि वैसी चीज़ उर्दू में दिखायी जाय। लेकिन उर्दू शायरी को घटिया और हिन्दी को बढ़िया दिखाना मुझे मंज़ूर नहीं, कहना यह है कि दोनों में उच्च कोटि की शायरी होती है और जैसे प्रायः हिन्दी वाले उर्दू शायरी का रस नहीं ले पाते, वैसे ही उर्दू के अच्छे से अच्छे कवि हिन्दी शायरी से लुत्फ़-अन्दोज़ नहीं हो सकते। मैंने दोनों के

अदब का गहरा मुताला किया है और दोनों के अदीबों की भावनाओं को मैं अच्छी तरह समझता हूँ, इसी कारण मैं अपने हिन्दी-भाषी मित्रों से कहना चाहता हूँ—यह ठीक है कि हिन्दी जैसा साहित्य उर्दू में नहीं, लेकिन जो है वह बेशक़ीमत है और उर्दू-भाषियों के निकट उसकी क़ीमत आपके साहित्य से कम नहीं। जैसे हिन्दी वाले अपने सरमाये को सहेज कर रखना चाहते हैं वैसे ही उर्दू-भाषी सदियों से इकट्ठे इस सरमाये को बचाना चाहते हैं। यह ठीक है कि हमारे अंग्रेज़ी शासकों की सांस्कृतिक पृथक्करण की नीति ने उर्दू को पोषित किया और उर्दू शायर फ़ारस और अरब से प्रेरणा पाते रहे, लेकिन आधुनिक युग में इसने भारतीय भावनाओं को भी व्यक्त किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन के ज़माने में जितनी पुरज़ोर और पुरजोश शायरी उर्दू में हुई, वैसी शायद हिन्दी में नहीं हुई। क्या आप इक़बाल की राष्ट्रीय कविता और काकोरी शहीद राम प्रसाद बिस्मिल की शायरी को, जिसने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में नयी रूह फूँकी, यकसर भुला देना चाहते हैं? तब की बात नहीं, आज भी उर्दू में प्रगतिशील भावनाओं को जैसे व्यक्त किया जा रहा है, हिन्दी में वैसे नहीं हो रहा है।

साम्राज्यवादियों, साम्प्रदाइयों और जाति-विशेष के अलम-बरदारों* के हाथों में पड़कर उर्दू भाषा ने देश का चाहे जो अहित किया हो, साहित्यिकों—विशेषकर प्रगतिशील साहित्यिकों के हाथों में इसने न केवल राष्ट्रीय पुनर्जागरण का काम किया है, बल्कि एक साझे कल्चर की दाग़-बेल भी डाली है। इस सरमाये को बचाना उर्दू-भाषियों का ही नहीं, हिन्दी-भाषियों का भी पहला कर्तव्य है।

अब सवाल यह पैदा होता है कि उर्दू भाषा के इस सरमाये को, जो

---

* झंडा बरदारों।

इन सदियों में हमारे विरसे के रूप में इक्ट्ठा हो गया है, कैसे बचाया जाय ? कैसे यह सरमाया एक संकुचित दायरे में न रहकर किसी जाति, वर्ग या पार्टी विशेष की संपत्ति न रहकर, जन-जन की संपत्ति बने ?

हिन्दी के संघ-भाषा बन जाने से यह तय है कि देश की अधिकांश जनता हिन्दी पढ़ेगी। तब देश की सभी प्रादेशिक बोलियों की पूँजी के साथ-साथ उर्दू की यह पूँजी भी हिन्दी में आनी चाहिए, लेकिन ग़ौर से देखा जाय तो उर्दू की स्थिति प्रादेशिक बोलियों से ज़रा भिन्न है। देश के काफ़ी भाग में सरकारी भाषा होने के बावजूद उर्दू चाहे किसी प्रदेश की भाषा नहीं बन पायी, लेकिन देश के शिक्षित मध्यवर्ग की भाषा अवश्य बनी है। हो सकता है यदि मत गणना की जाय तो यह किसी भी प्रदेश के अधिकांश लोगों की भाषा न हो—जातीयता के ख़याल से इसके पक्ष में मत देने वालों की कोशिशों के बावजूद—इसलिए इसको बचाने के लिए प्रादेशिक बोलियों को बचाने की कारवाई से भिन्न कुछ कारवाई करनी पड़ेगी। क्योंकि प्रादेशिक बोलियाँ भाषावार प्रान्तों के बनने से आप से आप प्रगति करेंगी, लेकिन उर्दू जैसी अहम भाषा शायद वैसा न कर सके।

हमारे उर्दू-भाषी मित्र इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि इसको उत्तर प्रदेश की सम्मिलित राजभाषा घोषित कर दिया जाय। इसमें कोई शक नहीं कि यह उत्तर प्रदेश की राजभाषा रही है, लेकिन जैसा कि मैंने शुरू में कहा है, उत्तर प्रदेश की अधिकांश आबादी इसे विजेताओं द्वारा लादी हुई भाषा मानती है और इसे बोलने के बावजूद इसे विदेशी भाषा समझती है। इसीलिए उसने अंग्रेज़ी की तरह उसको हटा दिया है। यह ठीक है कि कचहरियों में लिपि-परिवर्तन के बावजूद यही भाषा चालू है और शहरियों की बोली में इसका पुट है और इसी बातको लेकर उर्दू-भाषी इसे यहाँ के जनगण की भाषा घोषित करते हैं। लेकिन यदि यहाँ मत-गणना की जाय तो उत्तर प्रदेश के अधिकांश

लोग उर्दू के विरुद्ध ही मत देंगे। उन पर ज़ोर-ज़बरदस्ती इस भाषा को लादने का मतलब बहुसंख्यकों पर अल्पसंख्यकों के अत्याचार के बराबर होगा। इससे साम्प्रदायिक कटुता ही बढ़ेगी, जिससे उर्दू भाषा को लाभ नहीं, यक़ीनन नुक़सान पहुँचेगा।

इसी सिलसिले में कुछ लोग कहते हैं कि अगर उर्दू उत्तर प्रदेश की जनता की भाषा नहीं, तो हिन्दी ही कैसे वहाँ की जन-भाषा है? यदि उर्दू किसी प्रदेश की भाषा नहीं तो हिन्दी ही किस प्रदेश की भाषा है? जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उर्दू के मुकाबले में हिन्दी का पक्ष उत्तर-प्रदेश में मज़बूत है। कारण यह कि हिन्दी गद्य चाहे फ़ोर्ट-विलियम में शुरू हुआ हो या एक उर्दू आलोचक के कथानुसार चाहे अंग्रेज़ मिशिनरियों ने उर्दू के ख़िलाफ़ इसे खड़ा किया हो (हाँलाकि हिन्दी भाषी इसे नहीं मानते, वे कौरवी से इसकी उत्पत्ति मानते हैं) कारण कुछ भी हो, यह तय है कि जहाँ उर्दू यहीं जन्म लेकर बाहर का मुँह देखती रही, हिन्दी ने यहीं जन्म लेकर बाहर का मुँह नहीं देखा। सूर, तुलसी, कबीर, रहीम, बिहारी, वृन्द और जायसी—सब को इसने अपना लिया। हिन्दी पद्य के छोटे से छोटे संकलन में आपको ये कवि मिल जायँगे, पर उर्दू कविता के किसी बड़े संकलन में भी इनकी छाया तक दिखायी न देगी। प्रादेशिक बोलियों में और हिन्दी में चाहे कितना भी अंतर क्यों न हो, पर लिपि-भेद न होने से जितनी खड़ी बोली उनके नज़दीक है उर्दू नहीं। इस बात में न झूठ है न अत्युक्ति कि जायसी का पद्मावत और खानखाना के दोहे हिन्दी लिपि में बद्ध न हो जाते तो आज साहित्य में उनका कोई महत्व न रह जाता, क्योंकि उर्दू लिपि उनके लिए सब तरह से अनुपयुक्त है और उसमें लिखी जा कर कौरवी को छोड़कर सभी प्रादेशिक भाषाएँ ख़ासी हास्यास्पद हो जाती हैं। कल की बात हम नहीं कह सकते, लेकिन आज जैसा कि मैंने कहा, भोजपुरी हो या बुन्देलखंडी, बृजवासी हो या कौरवी, पंजाबी-भाषा-भाषी की तरह

हिन्दी के पक्ष में मत देगा। इन सब की इच्छा के विरुद्ध केवल लाख दो लाख या चार लाख दस्तखतों के बल पर उर्दू को उत्तर-प्रदेश के बहुसंख्यक लोगों पर लाद देना, न केवल उनको चिढ़ाने के बराबर होगा, बल्कि उसकी घोर प्रतिक्रिया भी होगी, जिसका लाभ निश्चय ही साम्प्रदायिक शक्तियाँ उठायेंगी।

इस माँग को छोड़ कर उर्दू की रक्षा की माँग न्यायोचित भी है और ज़रूरी भी। उर्दू की शिक्षा-दीक्षा का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए और जहाँ के लोग उर्दू भाषा में शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं, उसकी सुविधा उन्हें दी जानी चाहिए, क्योंकि उर्दू-भाषियों पर हिन्दी लादने का मतलब भी वही होगा, जो हिन्दी-भाषियों पर उर्दू लादने का! फल दोनों सूरतों में विषाक्त ही होगा।

यहाँ एक प्रश्न सांस्कृतिक-समन्वय और साझे कल्चर का भी है। आज तक उर्दू-हिन्दी एक ही स्रोत से निकल कर भी दो भिन्न दिशाओं की ओर बढ़ती गयी हैं। क्या इन दोनों को एक साझी भाषा में बदला जा सकता है? यह प्रश्न बहुत दिनों से देशवासियों को परेशान करता रहा है, क्योंकि इसमें शक नहीं कि इन दो भाषाओं द्वारा, अंगरेज़ों ने, हिन्दू मुसलमानों को एक दूसरे से परे रक्खा। इस समन्वय की ज़रूरत है, इससे शायद ही कोई इन्कार करे, लेकिन यह भी सच है कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से यह समन्वय प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज़ोर-ज़बरदस्ती प्रतिक्रिया को जन्म देती है और प्रतिक्रिया जोड़ने के बदले तोड़ती है।

इस समन्वय का एक तरीक़ा तो देश के नेताओं ने हिन्दुस्तानी ज़बान के रूप में निकाला। उनका कहना है कि उर्दू से फ़ारसी, अरबी और हिन्दी से संस्कृत-निष्ठ शब्द निकाल दिये जायँ तो जो भाषा रह जायगी वह बड़ी सरल, बोधगम्य और आसान होगी और तब उर्दू या हिन्दी में कोई अंतर न रहेगा। लेकिन उन शब्दों के बाद वह बेजान, फीकी, बेरस भाषा कैसी भाषा होगी? उसमें गहन विचार, विज्ञान, दर्शन

इत्यादि कैसे अभिव्यक्त होंगे ? यह सोचने की बात है। यही कारण है कि वर्षों की कोशिश के बाद भी यह गढ़ी हुई भाषा बहुत उन्नति नहीं कर सकी।

दूसरा तरीक़ा यह है कि दोनों भाषाओं को अपने-अपने तौर पर तरक्की करने दी जाय! हिन्दी के संघ-भाषा बन जाने पर अधिकांश उर्दू-भाषी भी हिन्दी सीख लेंगे और अपने आप धीरे-धीरे उर्दू का यह सारा सरमाया हिन्दी में आ जायगा, हिन्दी पर प्रभाव डालेगा और एक साझी भाषा को जन्म देगा।

तीसरा यह कि उर्दू के सारे सरमाये को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ऐसी संस्थाओं, सरकार, अथवा उर्दू हिन्दी दोनों भाषाओं के जानने वालों के द्वारा देवनागरी लिपि में मुन्तक़िल कर दिया जाय। यह काम शुरू भी हो गया है और ज़ोरों से माँग की जाय तो और भी तेज़ी से जारी हो सकता है। इस सारी पूँजी के हिन्दी में आ जाने से, न केवल एक सरल, बोधगम्य, प्रवहमान, रवाँ भाषा जन्म लेगी, बल्कि अलग-अलग रास्तों पर चलने वाले एक रास्ते पर चलना सीखेंगे, सचमुच साझा कल्चर जन्म लेगा और उर्दू-भाषियों को इस बात की शिकायत न रहेगी कि हिन्दी उनके कल्चर, उनकी आर्ज़ुओं और अरमानों, उनके जज़बों और वलवलों की तरजुमानी नहीं करती। उर्दू-भाषा-भाषी यह क्यों समझते हैं कि इससे उर्दू की हस्ती मिट जायगी और हिन्दी की संस्कृत-निष्ठता उर्दू को खा जायगी, यह क्यों नहीं सोचते कि उर्दू की रवानी, उसकी सुघड़ता, उसका पालिश और निखार हिन्दी की संस्कृत-निष्ठता को दूर कर देगा। कौन शब्द साहित्य में रहे और कौन न रहे, इसका फ़ैसला पंडित नहीं अदीब ही करते हैं और आगत का अदीब उर्दू हिन्दी दोनों शब्दों के भंडार में से किस को चुनेगा, यह आप अभी से कैसे कह सकते हैं?

एक बात उर्दू-भाषियों को साफ़ तौर पर सोच लेनी चाहिए। वह यह कि वे साझी ज़बान और साझे कल्चर के हिमायती हैं या नहीं?

अपनी ज़बान में वे केवल जाति-विशेष के कल्चर के बदले समूचे देश के कल्चर की तस्वीर देखना चाहते हैं या नहीं ? बाहर की ओर देखते रहने के बदले यहाँ की धरती—इस गंगा और जमुना की सरज़मीन—इसके गुल-बूटों और पशु-पक्षियों की ओर भी नज़र उठाना चाहते हैं या नहीं ? लाला-ो-सोसन, नरगिस-ो-संबुल, यासमन-ो-रीहाँ के साथ-साथ क्या यहाँ के जुही और बेला, हरसिंगार और पारिजात, पलाश और अमलतास और इश्क-पेचाँ के साथ मधुमालती और माधवी का ज़िक्र भी अपनी भाषा में चाहते हैं या नहीं ? और इस प्रदेश के केवल चार-पाँच सौ वर्ष के कल्चर ही की नहीं, सदियों और क़रनों के कल्चर की तस्वीर अपनी भाषा में खींचना चाहते हैं या नहीं ?—यदि वे यह सब नहीं चाहते और इस देश में रह कर भी एक दूसरे देश में बसते हैं और चार-पाँच सौ वर्ष के आगे नहीं देख पाते तो मुझे उनसे कुछ नहीं कहना, लेकिन यदि वे यह सब चाहते हैं तो मैं उनसे सविनय यह निवेदन करूँगा कि एक ही भाषा की दो शैलियों को अलग-अलग रास्तों पर ले जाने की इस कोशिश से जो आज तक होती आयी है और जिसे वे आगे भी जारी रखना चाहते हैं, यह हरगिज़ नहीं होगा। इस काम के लिए उन्हें देवनागरी लिपि को अपनाना होगा और उसमें अपने सारे सरमाये को मुन्तक़िल करके हिन्दी-उर्दू के उस साझे विरसे को अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए छोड़ना होगा।

अपने हिन्दी-भाषी दोस्तों से मैं कहूँगा कि मित्रो, जब तक उर्दू को हिन्दी ही की एक शैली मानने और उसके ज़खीरे को देवनागरी लिपि में बाँध लेने के अपने दावे को आप सच नहीं कर दिखाते, जब तक सूर और तुलसी, कबीर और जायसी, चंडीदास और गुरु नानक जैसे प्रादेशिक कवियों के साथ-साथ उर्दू के शायरों को अपने संकलनों में बराबर का हिस्सा नहीं देते; जब तक आप हिन्दी साहित्य के इतिहास में उर्दू साहित्य के सारे इतिहास को शामिल नहीं करते; जब तक आप

इंशा अल्लाह खाँ से लेकर उर्दू के आधुनिकतम कवि और गद्य लेखक तक को देवनागरी में नहीं ले आते, उर्दू को अपने हाल पर रहने दीजिए, उसे अपने तौर पर तरक्की करने दीजिए और जहाँ तक हो सके उसकी रक्षा और शिक्षा के साधन बहम पहुँचाइए। इस बेल को जो आपके चमन के पेड़-पौधों के ऊपर-ऊपर छायी है, उखाड़ कर घाम में न फेंकिए, बल्कि इसे अपने बाग़ की धरती में जमाकर सींचिए, ताकि यह खुराक की कमी के कारण धूप में सूख-सड़कर खतम न हो जाय, बल्कि पूरी खुराक पाकर फले-फूले और आपके बाग़ की रौनक़ बन कर अपने फूलों की सुन्दरता और फलों की उपादेयता से आने वाली पीढ़ियों के दिलो-दिमाग़ को राहत बख्शे।

परिशिष्ट

संक्षिप्त में चन्द बातें मैं निश्चित और ठोस (Concrete) रूप में लिखना ज़रूरी समझता हूँ :

१. उर्दू हिन्दी दो भाषाएँ नहीं, यद्यपि साधारण हिन्दी-भाषी और उर्दू-भाषी ऐसा समझते हैं।

२. हिन्दी उर्दू एक ही भाषा के दो साहित्यिक-रूप हैं।

३. उर्दू लिपि चूँकि शासकों द्वारा लादी गयी, इसलिए उत्तर-प्रदेश की अधिकांश जनता को स्वीकार नहीं। उत्तर-प्रदेश की सभी प्रादेशिक बोलियों की लिपि देवनागरी है।

४. आज चाहे दो लिपियाँ हों, पर कभी जाकर ये दोनों एक ही लिपि यानी देवनागरी में समाहित हो जायँगी।

यदि यह मान लिया जाय तो :—

क. प्राथमिक शिक्षा इस लिपि में दी जाय, क्योंकि प्राइमरी क्लासों में उर्दू हिन्दी दोनों भाषाओं में कोई अन्तर नहीं। 'आम खा' 'पानी पी,' 'माँ बच्चे को गोद में लिये बैठी है, बाप हुक्का भी पी रहा है।'

यह सब पढ़ाने के लिए दो लिपियों की ज़रूरत नहीं। पाँच जमात पढ़ कर ही जो किसान-मज़दूर अपने काम में लग जायेंगे, इस लिपि द्वारा वे उत्तर-प्रदेश की सभी हलचलों से परिचित रहेंगे।

ख. सेकेंडरी स्टेज पर जो लोग चाहें, उन्हें उर्दू में शिक्षा दी जाय। मुझे इसमें आपत्ति नहीं कि छठी जमात से एम० ए० तक कोई उर्दू पढ़ ले। लेकिन शिक्षा का माध्यम हिन्दी रहना चाहिए।

५. उत्तर-प्रदेश की राज-भाषा हिन्दी रहेगी (इस बात के बावजूद कि कचहरियों में उर्दू बोली जाती है और शहरी उर्दू बोलते हैं।) क्योंकि अधिकांश आबादी भाषा-शास्त्र में निपुण नहीं और उर्दू लिपि को विदेशी समझती है। उसी के ज़ोर देने पर इस लिपि को कचहरियों से हटा दिया गया है, यद्यपि भाषा वही है।

६. लेकिनकुछ निश्चित अवधि के लिए उन लोगों की खातिर जो उर्दू भाषा जानते हैं और अब हिन्दी नहीं सीख सकते, रसीद देना, या अर्ज़ियाँ लेना और इसी तरह की कुछ अधिक सुविधाएँ उर्दू लिपि में दी जायँ।

७. दूसरे प्रान्तों में उर्दू भाषा के सम्बन्ध में भी सोच-विचार से उपरिलिखित बातों पर विचार करके फ़ैसला किया जाय और कोई ऐसी बात न की जाय जो साम्प्रदायिकता की नींव को मज़बूत करे।

प्रगतिशील आन्दोलन

प्रगतिशील आन्दोलन, जिसका सूत्रपात प्रेमचन्द के हाथों हुआ था और जिससे आशा थी कि दिनों-दिन अपने घेरे को बढ़ाता जायगा और अपने साहित्य की उपादेयता, गतिशीलता तथा शक्तिमत्ता से उन लोगों को भी साथ ले लेगा जो उससे बाहर हैं, इधर कुछ वर्षों से संकुचित से संकुचति-तर होता गया है। दूसरों को अपने घेरे में लाने की बात तो दूर रही, अपनों से भी नाता तोड़ता गया है। उसका वह विशाल घेरा संकुचित होते-होते चिड़िया के इक्के सरीखा रह गया है, जिसके वृत्त में और कोई नहीं रहा, सिर्फ़ दो तीन आलोचक सिर से सिर मिलाये, अपने अहम् में चूर बैठे ऐंड़ते रहे हैं।

आज बहुत से लेखक, जो युद्धोत्तर संकट और उससे पैदा होने वाली समस्याओं को सुलझाने में प्रगतिशील आन्दोलन का अंग होने चाहिएँ थे, उससे विलग हैं। जो साथ हैं, उनमें बहुतों के मन में दुविधा है, भय है। दुविधा इस बात की नहीं कि जीवन अथवा जीवन के प्रतीक

साहित्य की प्रगति में उनका अविश्वास है, भय भी इसलिए नहीं कि प्रगतिशील आन्दोलन कोई ग़ैर-कानूनी आन्दोलन है और उसमें भाग लेने से उन्हें जेल जाने का डर है। यह दुविधा और भय तो उस व्यवहार के कारण है, जो उन्हें प्रगतिशील आलोचकों ही के हाथों मिला है, जिसने प्रगतिशील आन्दोलन और उसके प्रतीक 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' में उनके विश्वास को डिगा दिया है। कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो अपने व्यक्तिवादी खोल से बाहर आकर जीवन के प्रशस्त प्रांगण को देखने लगे थे। हमारे जोशीले आलोचकों की मार से डर कर वे फिर घोंघे सरीखे उसी खोल में चले गये हैं। ऐसे कई लेखक थे, जो 'कला-कला के लिए' के एकांगी संकीर्ण पथ को छोड़ कर उपादेय साहित्य की सृष्टि करने लगे थे। वे हमारे जोशीले संकीर्ण-वृत्ति, बाहर के नारों को इस देश की स्थिति जाने बिना यहाँ ले आने वाले आलोचकों की गालियाँ सुनकर प्रगतिशील आन्दोलन से मुँह मोड़, कुंठित और कटु हो, फिर अपने उन्हीं अँधेरे, संकीर्ण, अकेले पथों पर भटकने लगे हैं। चाहिए यह था कि हम उपादेय साहित्य के प्रशस्त पथ पर चलने में उन्हें प्रोत्साहन देते, बड़ी हमदर्दी मुख़लिसी[1] और बिरादराना तौर पर उनकी ग़लतियाँ उन्हें बताते, उन्हें अच्छा साहित्य-सृजन करने की प्रेरणा देते और इस तरह प्रगतिशील साहित्य को सशक्त, सक्षम और सबल बनाते, पर हमारे आलोचक, प्रगतिशील आन्दोलन के अनुयायियों की संख्या को बढ़ाने के बदले, इसमें आये हुए लेखकों को निकालने के दरपै[2] हो गये। प्रेमचन्द को छोड़कर कोई ही नामी प्रगतिशील साहित्यिक होगा, जिसके नाम को पिछले दिनों ऊँचाई से उतार कर, कीचड़ में मिलाने की कोशिश नहीं की गयी। प्रेमचन्द का सौभाग्य है कि इस

१ : मुख़लिसी = सच्चाई; बिरादराना तौर पर = भ्रातृभाव से।
२ : दरपै हो गये = पीछे पड़ गये.

दौर में वे ज़िन्दा नहीं थे, नहीं तो हमारे जोशीले आलोचकों का प्रहार सबसे पहले उन्हीं पर होता। 'गोदान' की यथार्थता को संकीर्ण यथार्थता— ऐसी यथार्थता बताकर, उसका उपहास उड़ाया जाता जिसमें आशा की कोई किरण नहीं और कहा जाता कि होरी ने अपने गाँव वालों को साथ लेकर 'वरली' या 'तैलंगाना' के किसानों की तरह विद्रोह का झंडा क्यों नहीं खड़ा किया ? वह क्यों अपनी परिस्थितियों के सामने हथियार डालकर मर गया ? ऐसे टुटपुँजिया यथार्थवाद से देश की उठती किसान-मज़दूर जनता को क्या बल मिलेगा ? और प्रेमाश्रम को समन्वयवादी उपन्यास बताकर प्रेमचन्द को समन्वयवादी कथाकार घोषित कर, उनकी खिल्ली उड़ायी जाती।

आज से छै सात वर्ष पहले प्रगतिशील आन्दोलन में बेपनाह ज़ोर था। उस समय सभी लेखक अपने आपको प्रगतिशील कहने में गर्व अनुभव करते थे। कोई लेखक, लेखक न कहाता था, जो प्रगतिशील न था। कहने का मतलब यह कि वे लेखक जो वास्तव में प्रगतिशील नहीं थे, जिनके अन्तर में पुरानी रूढ़ियाँ बदस्तूर पल रही थीं, प्रगतिशील बनने की आकांक्षा रखते थे। अपने आपको प्रगतिशील कहने में गर्व अनुभव करते थे। ऐसे लेखक भी थे, जो प्रगतिशीलता में प्रगतिवादियों से भी आगे बढ़ने का दम भरते थे। उनका दावा था कि वे ही सच्चे अर्थों में प्रगतिशील हैं, क्योंकि वे भौतिक प्रगति में ही नहीं, आध्यात्मिक प्रगति में भी विश्वास रखते हैं। उस समय हिन्दी में क्या स्थिति थी, मैं नहीं जानता, उर्दू में तो पुराने लेखकों ने अपना सिक्का न चलता देखकर, लिखना बन्द कर दिया था। आज यह हालत है कि प्रगतिशील शब्द एक मज़ाक का विषय बन गया है और लेखक इस बात की माँग करते हैं कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' को तोड़ दिया जाय। यह माँग बाहर ही से नहीं, संघ के भीतर से भी सुनायी देती है। नवम्बर १९५२ में इलाहाबाद

में प्रगतिशील लेखक संघ का जो प्रादेशिक अधिवेशन हुआ था, उसने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया। संयोजकों ने यह समझकर कि अमुक लेखक उनके साथ है, उसका नाम अपनी किसी कमेटी में रख दिया, पर वह तत्काल उसकी तरदीद करने प्रेस जा पहुँचा, जैसे उन्होंने उसके साथ बड़ा भारी अन्याय कर दिया हो, उसके माथे पर कलंक का टीका लगा दिया हो। संयोजकों ने एक बड़ी प्रतिष्ठा का पद अपने किसी प्रतिष्ठित लेखक को देना चाहा, पर उसने उस पद को लेने से इनकार कर दिया। कुछ वर्ष पहले ऐसी स्थिति की कल्पना भी न की जा सकती थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कई प्रगतिशील लेखक (मनोविज्ञान को जिनकी मशीनी सोच में वैसा दखल नहीं) इस समय हमारे साथ न मिलने वाले उन लेखकों को प्रतिक्रियावादी अथवा अमरीका के हाथों बिके हुए अथवा कोई और ऐसी ही उपेक्षामयी संज्ञा देकर संतोष कर लेते हैं और आश्वस्त हो जाते हैं—बिलकुल वैसे ही, जैसे उनमें से कुछ प्रगतिवादियों में से अधिकांश को रूस के हाथों बिका हुआ घोषित करके संतोष कर लेते हैं। बात क्या वास्तव में रूस अथवा अमरीका ही की है ? क्या लेखक के मन में कला के ध्येय, उसकी उपादेयता, उसके सत्य, शिव, सुन्दर, उसकी यथार्थता अथवा आदर्श के बारे में कोई द्वन्द्व नहीं उठता ? क्या यह सम्भव नहीं कि अमरीका से साँठ-गाँठ किये बिना भी कोई लेखक यह समझे कि उसका काम जीवन के सुख-दुख का, उसकी गंदगी-ग़लाज़त का चित्रण करना नहीं, उसका उद्देश्य तो महाकवि कालिदास की तरह उस सब विष को स्वयं पीकर, रसिकों को केवल अमृत पिलाना है; अथवा जनता के दुख-दर्द का चित्रण न कर, अपने व्यक्तिगत सुख-दुख अथवा अपनी ही मानसिक ग्रंथियों को सुलझाना है। इसके विपरीत क्या सम्भव नहीं कि कोई लेखक बिना रूस से मदद लिये, यह सोचे कि कालिदास का ज़माना अब नहीं रहा। अब लेखक किसी विक्रमादित्य के आश्रय में पलकर उसके अथवा

उसके सामन्तों के मनोरंजनार्थ साहित्य की सृष्टि नहीं करता, उन सहस्रों लोगों के लिए लिखता है जो उसी की तरह संघर्ष-रत हैं।

शहरों को छोड़ दीजिए, जहाँ कला के उद्देश्यों के सम्बन्ध में सदा वाद-विवाद होते रहते हैं। इन वाद-विवादों और रूस तथा अमरीका के प्रभाव से दूर, क्या आप गाँव के किसी ऐसे कवि की कल्पना नहीं कर सकते जो बरसात की सुबह में भीगते हुए फूलों को देखकर अनायास गा उठता है :

मिह फ़ज्जराँ दे वस्सदे ने,
ओ, कलियाँ के घुंड खुल गये
फुल्ल ठाह-ठाह वई हस्सदे ने।[1]

और जो स्वदेशी आन्दोलन के वश होकर चिल्ला उठता है :

आप गाँधी कैद हो गया
सानूँ दे गया खद्दर दा बाना

इसलिए बाह्य दबाव से कहीं ज्यादा कवि का अपना अन्तर्द्वन्द्व और उसका अपना दृष्टिकोण अहमीयत रखता है। यदि आलोचक चाहते हैं कि कोई कवि अथवा लेखक व्यक्तिवादी साहित्य के संकीर्ण मार्ग को छोड़ जन-सेवा के प्रशस्त राज-मार्ग को अपनाये तो उन्हें चाहिए कि उसे आज के युग में उसकी देन के प्रति जागरूक बनायें, महाकवि इक़बाल के शब्दों में उसे समझायें कि—

क़ौम गोया जिस्म है, इफ़राद हैं आज़ा-ये-क़ौम,
मंज़िले सनअत के रह-पैमा है दस्तो-पाये-क़ौम,
महफ़ले-नज़्मे-हुकूमत, चेहरा-ए-ज़ेबा-ए-क़ौम
शायरे-रंगीं-नवा है, दीदा-ए-बीना-ए-क़ौम

---

१ मेंह सुबह से बरस रहा है। कलियों के घूँघट खुल गये हैं और फूल ठहाके मार कर हँस रहे हैं।

मुब्तला-ए-दर्द कोई उज़्व हो, रोती है आँख
किस क़दर हमदर्द सारे जिस्म की होती है आँख[1]

अपने उन साथियों को इस बात का अहसास दिलाने के लिए कि वे जनता की आँख हैं, कि जनता का कोई अंग भी क्यों न दर्द करता हो, उनका दिल भर आना चाहिए और उन्हें जनता के दुख-दर्द को अपने साहित्य में उतारना चाहिए, दो तरीके हैं :

● पहला यह कि वे जो अपने आपको प्रगतिशील लेखक समझते हैं, ऐसी ओज-पूर्ण और उपादेय कृतियों की सृष्टि करें, जिन्हें न केवल जनता अपनाये, बल्कि कला की दृष्टि से भी जो उच्चकोटि की हों तथा दूसरे लेखक और कवि भी जिनसे प्रभावित हों, प्रेरणा ग्रहण करें और वैसी ही चीज़ें लिखने का प्रयास कर, एक स्वस्थ परम्परा स्थापित करें। प्रेमचन्द ने यही मार्ग अपनाया था और यशपाल इसी मार्ग पर अग्रसर हैं।

● दूसरा यह कि वे जो अपने आपको प्रगतिशील आलोचक समझते हैं, बुरी कृतियों, अस्वस्थ परम्पराओं और युग का साथ न देने वाली कुप्रवृत्तियों की ऐसी आलोचना करें कि न केवल उनकी बुराई अथवा व्यर्थता प्रकट हो, बल्कि स्वयं लेखक भी अपने दृष्टिकोण को सुधारे। यह सूक्ष्म और हमदर्द आलोचक ही का काम है, जो केवल मशीनी ढंग से नहीं सोचता, बल्कि जिसकी दृष्टि पैनी और विस्तृत भाव-भूमि पर विचरने की शक्ति के साथ-साथ लेखक के मनोविज्ञान में पैठने की सूक्ष्म-

---

१ राष्ट्र मानो शरीर है और विभिन्न व्यक्ति उसके अङ्ग हैं। उद्योग धंधों की मंज़िल के यात्री याने कारख़ाने वाले उसके हाथ-पैर हैं। शासन-पद्धति की महफ़िल राष्ट्र का सुन्दर मुखड़ा है। लेकिन मस्ती के रंगीन तराने गाने वाला कवि राष्ट्र की आँख है। तन के किसी अङ्ग को पीड़ा हो, आँख भर आती है। सारे तन के प्रति कितनी हमदर्दी आँख में भरी रहती है।

बूझ भी रखती है। अपने समय में आचार्य द्विवेदी और प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में एक ओर बन्ने भाई (श्री सज्जाद ज़हीर) और दूसरी ओर श्री शिवदान सिंह चौहान ने यही मार्ग अपनाया था। यह प्रगतिशील आन्दोलन का दुर्भाग्य है कि बन्ने भाई जेल में हैं और शिवदान नियतिवादियों में शामिल होकर इन्सान की श्रम-जनित प्रगति में विश्वास खो बैठे हैं।

● एक तीसरा ढंग भी है, लेकिन यह बाहर के ऐसे देशों में तो सफल हो सकता है, जहाँ विचारों के प्रकाशन पर नियन्त्रण रखा जा सकता है और किसी लेखक को व्यर्थ की चीज़ें लिखने और प्रकाशन-संस्था को उसकी चीज़ों का प्रचार करने से बरबस रोका जा सकता है, पर अभी हिन्दुस्तान में वैसा नहीं हो सकता। वह रास्ता है—विचारों की पंक्ति-बद्धता Regimentation और उसी के फल-स्वरूप फ़तवे देने का।

उस पंक्ति-बद्धता की यहाँ ज़रूरत है या नहीं? अभी वह यहाँ सम्भव है या नहीं? बिना इस बात पर ठंडे दिल से विचार किये, हमारे, कुछ प्रगतिशील आलोचकों ने ज़दानौव-काम्पलेक्स* से पीड़ित हो, अपने शौक की सरगर्मी में, अंधाधुन्ध फ़तवे देने शुरू कर दिये और क्योंकि ज़दानौव ने अपनी रिपोर्टों में कुछ लेखकों को गालियाँ दी थीं, इसलिए भारत के इन ज़दानौवों ने गालियों का भी पर्याप्त पयोग अपनी आलोचनाओं में किया।

यहाँ मैं चन्द शब्द ज़दानौव की उन रिपोर्टों के बारे में पाठकों के सम्मुख रखना चाहता हूँ, जो प्रगतिशील आलोचकों के ज़दानौव-काम्पलेक्स

---

* ज़दानौव द्वितीय महायुद्ध के समय रूस की सेण्ट्रल कमेटी के सेक्रेट्री थे। उन्होंने एक रिपोर्ट में रूस के लेखकों, कवियों और नाटककारों की कड़ी आलोचना की थी। उनकी रिपोर्ट [illegible] की भार मचाती थी। हमारे [illegible] के आलोचक अपने आप को ज़दानौव के रूप में देखने लगे, जिसके आगे रूस के सब लेखक नत-मस्तक थे। [illegible] आलोचकों की इसी प्रवृत्ति को ज़दानौव-काम्पलेक्स कहा जाता है।

का कारण हैं। ज़दानौव की उन रिपोर्टों का एक संग्रह बम्बई से १९४८ में छपा था। मैंने तब उन रिपोर्टों को पढ़ा था। और वे इतनी ओज-पूर्ण, तेज़ और युक्ति-युक्त हैं कि मैं उनसे बड़ा प्रभावित हुआ था। अब ये पंक्तियाँ लिखने से पहले मैंने उन्हें फिर पढ़ा है और रूस की उस समय की स्थिति को देखते हुए वे बिलकुल ठीक लगती हैं।

हुआ यों कि जब लेनिनग्राड पर जर्मन आततायी गोले बरसा रहे थे और वहाँ के निवासी हर तरह के दुख झेल कर, हर तरह की कुर्बानी देकर उसकी रक्षा कर रहे थे, 'लेनिनग्राड' नामक पत्रिका में ज़ोशैंको नाम का एक सम्पादक ऐसे व्यंग्यात्मक लेख लिख रहा था, जिनका उद्देश्य उन वीरों का मज़ाक उड़ाना था। उसकी कृतियों की निन्दा एक दूसरी पत्रिका ने की थी। जब बहुत लोगों ने उसके विरुद्ध आवाज़ उठायी तो मामला सेण्ट्रल कमेटी तक पहुँचा, जाँच हुई और केन्द्रीय कमेटी के मन्त्री ज़दानौव ने न केवल उसकी कृतियों के बारे में जाँच की, बल्कि लगे हाथों सारे साहित्य का जायज़ा लिया और सोवियत लेखकों के कर्तव्य के सम्बन्ध में अपना मत प्रदर्शित किया।

वहाँ की स्थिति कैसी थी, जिसमें ज़ोशैंको की आलोचना की गयी, यह ज़दानौव ही के शब्दों में देखिए—ज़ोशैंको की एक कृति की आलोचना करते हुए ज़दानौव ने लिखा :

*"It would be hard to find in our literature any thing more repulsive than the moral preachad by zoschenko in 'Before Sunrise' which depicts people and himself as vile, lewd beasts without shame or conscience and this, moral he presented to Soviet readers in that period when our people were pouring out their blood in a war of unheard difficulty.**

*'ज़ोशैंको ने 'सूर्योदय से पहले' में जो नैतिक उपदेश दिया है, वैसी घृणित चीज़ हमारे साहित्य भर में दूसरी ढूँढ़े से न मिलेगी। ज़ोशैंको ने किसी तरह की लज्जा

इस पैरे के पिछले वाक्य पर ध्यान दीजिए। किस काल में ज़ोशेंको यह बेवक्त की शहनाई बजा रहा था? उस समय जब रूसी लोग अपनी जानों की बाज़ी लगाये, जंग के मोर्चों पर अपना रक्त बहा रहे थे। यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि **ज़ोशेंको पच्चीस वर्ष से उसी व्यवस्था में लेखन-कार्य कर रहा था, पर जो कृतियाँ दूसरे किसी समय सही जा सकती थीं, उन्हें संकट-काल में बर्दाश्त न किया जा सकता था।**

ज़ोशेंको की कृति की भरपूर निन्दा करते हुए ज़दानौव ने सोवियत लेखक संघ के मन्त्री कवि तिखौनौव से लेकर नाटककार सिमौनौव तक—सब की कृत्तियों का जायज़ा लिया और सभी लेखकों और कवियों ने अपनी ग़लतियों को माना।

हमारे कुछ प्रगतिशील आलोचक ज़दानौव की रिपोर्ट और असर से उचित ही प्रभावित हुए और हिन्दी के ज़दानौव बनने के सपने लेने लगे, ऐसा ज़दानौव, जिसकी सत्ता के आगे रूस के सभी लेखकों ने सर नवा दिया था। हमारे साथी यह भूल गये—

● कि हिन्दुस्तान रूस नहीं।

● कि हिन्दुस्तान में रूसी व्यवस्था नहीं। न हिन्दुस्तान की सरकार अभी कम्युनिस्ट सरकार है और न लेखकों पर उसका वैसा नियन्त्रण है। न सरकार उनकी रोज़ी की ज़िम्मेदार है और न वे उसके आगे जवाबदेह हैं।

● कि प्रगतिशील-लेखक-संघ एक वालंटियरी संस्था है।

● कि प्रगतिशील-लेखक-संघ में वे ही लेखक नहीं जो पार्टी

और आत्मिक कचोट के बिना अपना और जनता का चित्रण अत्यन्त हेय; कमीने और कामी पशुओं सरीखा किया है। और यह नैतिक निष्कर्ष उसने ऐसे समय में सोवियत पाठकों के सम्मुख रखा है जब कि वे वर्णनातीत कठिनाइयों के बीच युद्ध में अपने रक्त का अर्घ्यदान देकर देश की रक्षा कर रहे थे।

के सदस्य हैं, बल्कि दूसरे हमदर्द लेखक भी हैं। प्रकट है कि वे उस प्रकार का नियन्त्रण स्वीकार नहीं करते।

७ कि भारत में वैसा संकट-काल उपस्थित नहीं।

इस अन्तिम बात पर मैं रोशनी डालना चाहूँगा। कुछ प्रगतिशील साथियों ने वरली या तैलंगाना के आन्दोलनों को क्रांति का पेशख़ैमा समझा और यह सोचकर कि हमारी स्थिति रूस सरीखी है और वैसा ही संकट-काल उपस्थित है, उन्होंने लेखकों को लताड़ना और ज़दानोव की तरह फ़तवे देना शुरू कर दिया। वे यह भूल गये। कि एक डेढ़ वर्ष पहले ही पन्द्रह अगस्त १९४७ को कम्युनिस्ट पार्टी ने आज़ादी का दिन मनाने में योग दिया था और प्रगतिशील लेखकों ने सब जगह आज़ादी के जलूसों में हिस्सा लिया था। वह सरकार, जिससे कुछ ही समय पहले बहुत कुछ बातों पर सहयोग हो रहा था, इतनी जल्दी कैसे बर्बर जर्मनी सरीखी बन गयी कि उसके विरुद्ध युद्ध करना ज़रूरी हो गया, यह बात तत्काल अन्य लेखकों की समझ में न आ सकती थी, जो वरली या तैलंगाना से योजनों दूर बैठे थे।

फिर महात्मा गांधी और कांग्रेस का जादू ऐसा न था कि उसके प्रभाव को इतनी जल्दी देश की दूसरी जनता के दिमाग़ से हटा दिया जाता। आज आम जनता के मन में कांग्रेस के प्रति जो कटुता है, यह उस समय न थी। लेखकों की हमदर्दियाँ जनता की हमदर्दियों के साथ ही बँटी हुई थीं।

तैलंगाना से दूर बैठे लेखकों की बात जाने दीजिए, स्वयं हैदराबाद के लेखक अपनी हमदर्दियों के बारे में साफ़ न थे। इब्राहीम जलीस ने जो आज पाकिस्तान प्रगतिशील लेखक संघ का सरगर्म सदस्य है, रज़ाकारों के साथ मिलकर भारतियों को बेतहाशा गालियाँ दीं। यहाँ तक कि 'नया अदब' बम्बई के संपादक और उर्दू के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि श्री 'सरदार जाफ़री' को 'नया अदब' में उसकी निंदा करनी पड़ी। हमारे

यहाँ न तो रूस के साधन हैं कि बदली हुई पालिसी को एक दम प्रत्येक लेखक तक पहुँचा दिया जाय और न ही जन-आन्दोलन इतना तेज़ हुआ है कि हमदर्दियाँ एक दम तीखी और साफ़ हो जायँ।

उस वक्त की बात दूर रही, आज भी बहुत से लेखक जो अपने साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, वरन् जन-कल्याण समझते हैं, जो साहित्य की जनरंजनता में विश्वास रखते हैं, अभी तक कांग्रेस से आशा लगाये हुए हैं। समझते हैं कि कांग्रेस जनता के दुख को दूर करेगी। साहित्य की प्रगतिशीलता में उनका विश्वास है, देश में किसान-मज़दूर का राज्य हो, यह भी वे चाहते हैं, पर किस तरह वह सब सम्भव होगा ? यह बात वे ठीक तरह नहीं समझते।

ऐसे लेखकों को हमदर्दी, मुखलिसी और भ्रातृ-भाव से, देश की बदली परिस्थिति समझाने और उन्हें अपने कलम का मुँह उधर मोड़ने का परामर्श देने के बदले, हमारे साथियों ने घोषणा कर दी कि जो हमारे साथ नहीं, वे हमारे शत्रु हैं और उन्होंने अंधाधुन्ध फ़तवे देने शुरू कर दिये कि अमुक टुटपुंजिया है, अमुक क्रान्ति-विरोधी है, अमुक समन्वयवादी है, अमुक सरमायदारों का गुलाम है, अमुक सरकार के साथ मिल गया है, अमुक यह है, अमुक वह है। उन्होंने मित्रों और शत्रुओं की सूचियाँ बना डालीं और प्रगतिशील-लेखक-संघ के शत्रुओं को दिल्ली के एक संकीर्ण आलोचक के नाम से वह चुटकुला * गढ़ने का अवसर दिया, जिससे आज भी हम चिढ़ जाते हैं।

---

* उस समय जब एक ओर वरली और तैलंगाना का ज़ोर था, दूसरी ओर बङ्गाली असन्तुष्ट थे, एक ओर पूर्वी यू० पी० में बेचैनी थी और दूसरी ओर [illegible] पंजाब में [illegible] ने यह समझ लिया कि [illegible] [illegible] लेखकों की सूचियाँ [illegible] कि [illegible] करते ही उन्हें उचित दंड देंगे।

इस चुटकुले में कितनी सचाई है, यह मैं नहीं कह सकता, पर यह निश्चय ही हमारे कुछ प्रगतिशील साथियों की मनोवृत्ति का द्योतक है।

अपने शौक़ की सरगर्मी में हमारे साथियों ने उन लेखकों की ही निन्दा नहीं की जो 'कला कला के लिए' के संकीर्ण पथ पर अड़े थे, बल्कि उन्हें भी लतियाना शुरू कर दिया जो अपने संकीर्ण पथ को छोड़ कर जन-कल्याणार्थ साहित्य की सृष्टि करने का प्रयास कर रहे थे। न केवल यह, बल्कि हमारे इन जोशीले साथियों ने उनको भी गालियाँ दीं जिन्होंने अनवरत श्रम से अपनी शक्ति का प्रत्येक कण लगाकर इस आन्दोलन के वेग को दुर्निवार और दुर्दमनीय बनाया था।

शाहराह (दिल्ली) के अपने एक लेख में कवि सरदार ज़ाफ़री ने लिखा है—

दिल्ली के एक युवक लेखक-आलोचक ने जो सिवा अपने शेष सबको ग़ैर-मार्क्सवादी समझते थे, एक सूची बनायी जिसमें सबसे ऊपर प्रसिद्ध प्रगतिशील कहानी लेखक कृष्णचन्द्र का नाम था। क्योंकि उनके मतानुसार कृष्णचन्द्र नितान्त अमार्क्सवादी हैं।

तब उनके एक कवि मित्र जो इधर सोशलिस्टों के साथ थे, उनके पास गये और उन्होंने कहा कि देखो भाई मुझे पता चला है कि तुमने मेरा नाम भी उस सूची में दिया है, ऐसा जुल्म न करो। यह ठीक है कि आज तुम मुझे प्रगतिशील नहीं समझते, पर मैंने भी प्रगतिशील आन्दोलन की बड़ी सेवा की है। मेरी कविताएँ एक वक्त में बड़ी प्रगतिशील समझी जाती थीं। हम तुम दोनों मित्र रहे हैं। मेरा नाम उसमें से काट दो।

'I Can't promise'! दिल्ली के उस जवानीव ने कहा—तब भूतपूर्व प्रगतिशील कवि और भी गिड़गिड़ाने लगा। उसने हाथ जोड़े और कहा कि भाई मेरे बीवी-बच्चों का ख़याल करो। सब तुम्हारे जैसे तपस्वी और मनस्वी नहीं होते। मेरा बुड्ढा बाप है, बीवी है, तीन बच्चे हैं। मैं तुम्हारी [illegible] से [illegible] सकता हूँ। मन से मैं तुम्हारे साथ हूँ, मुझ पर [illegible] दया करो।

'All Right, I shall try!' उन्होंने साभिमान कहा और ऐंठते हुए चल दिये।

'तरक्की पसन्द अदीब बहुत से उलझावे लेकर आयेंगे और सही सिमृत[1] में तरक्की करते रहेंगे, बशर्तेकि हम मुख़लिसाना और बिरादराना तनक़ीद[2] से एक दूसरे की मदद करते रहें।"

सरदार ने बिलकुल ठीक कहा है, पर क्या पिछले दिनों हमारी आलोचना मुख़लिसाना और बिरादराना रही है? पंत, महादेवी तथा दूसरे छायावादी कवियों ही की नहीं, राहुल से लेकर रांगेय राघव तक, सारे प्रगतिशील लेखकों की जो आलोचना की गयी, वह क्या बिरादराना और मुख़लिसाना थी? इसी बिरादराना तनक़ीद का एक मोती मैं आपके सामने रखता हूँ।

शिवदान सिंह चौहान को हर तरह से क्रांति-विरोधी, सरमायेदारों का गुलाम, टुटपुँजिया, समन्वयवादी साबित करते हुए हमारे जोशीले साथी डा० रामविलास शर्मा ने चलते-चलते एक लात मेरे भी जमा दी। 'नया सवेरा' (लखनऊ) में उन्होंने लिखा :

'चौहान के आलोचना-सिद्धान्त अमल में किस तरह आते हैं, इसकी एक मिसाल यह है कि अश्क का उपन्यास 'गिरती दीवारें' उन्हें हिन्दी का महान यथार्थवादी उपन्यास दिखायी देता है। प्रतीक में उन्होंने अश्क को—जिसके नाम का मतलब आँसू है और जो यथा नाम तथा गुण रचनाएँ करते हैं— उठाकर गोर्की के बराबर बैठा दिया है!"

यह आलोचना कुछ वैसी ही है, जैसे कोई डाक्टर शर्मा की आलोचना से चिढ़कर कह दे कि ये राम के विलास भला क्या आलोचना करेंगे, इन्हें तो 'सुख विलास' की दुकान खोल लेनी चाहिए!

यहाँ 'गिरती दीवारें' की अच्छाई-बुराई से बहस नहीं। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि बिरादराना आलोचना का, वह कितनी भी

---

१ सिमृत = दशा; २ तनक़ीद = आलोचना

तेज़ क्यों न हो, यह तगादा था कि श्री शिवदान सिंह द्वारा की गयी 'गिरती दिवारें' की समीक्षा भर को पढ़ कर आलोचना करने के बदले,[1] डा० शर्मा उपन्यास को पढ़ते और लेखक को बताते कि उसके यथार्थ-वाद में क्या कमी है? उस यथार्थ में सामाजिकता है या नहीं? ऐसा यथार्थवाद लाभकर है या हानिकर? हानिकर है तो क्यों? 'गिरती दिवारें' में शोषण का जो चित्र है, वह साफ़ है या धुँधला आदि आदि। पर ऐसा करने के लिए उन्हें छै सात सौ पृष्ठ पढ़ने पड़ते और हमारे प्रगतिशील आलोचक हिन्दी साहित्यिकों की पुस्तकें उतनी नहीं पढ़ते जितनी रूसी या चीनी आलोचकों या साहित्यिकों की। उनमें भी साहित्यिक पुस्तकें वे पढ़ते हैं, मुझे संदेह है। मेरे विचार में तो हमारे आलोचकों को पक्षवालों ही की नहीं, अपने विपक्षियों की पुस्तकें भी ध्यान से पढ़नी चाहिएँ, ताकि वे उनकी त्रुटियाँ बताकर अपने साथियों को उन गढ़ों और खन्दकों से खबरदार कर सकें, जो उस रास्ते में बिखरी पड़ी हैं। ऐसी आलोचना साहित्य के गम्भीर अध्ययन के बाद ही की जा सकती है। सरसरी दृष्टि से पढ़ने पर गाली तो दी जा सकती है, प्रगतिशील आलोचना करके मार्ग-निर्देश नहीं किया जा सकता।

पिछले चन्द वर्षों में हमारे कुछ आलोचक जहाँ बड़े लेखकों की आलोचना करते आये हैं, वहाँ निपट यांत्रिक ढंग से कुछ नारे भी लगाते रहे हैं।

---

१ डा० शर्मा ने ऐसा ही किया था। श्री शिवदान सिंह ने पुस्तक की पांडुलिपि को पढ़ा था। छपने में उसे दो बरस लग गये। शिवदान ने आलोचना लिखी तो अधिकतर याद ही से लिखी। इसलिए उसकी [illegible] डा० शर्मा ने भी 'नया सवेरा' में दोहरा [illegible] की आलोचना पढ़ी है। उत्तर प्रदेशीय [illegible] मैंने उससे यह बात कही तो वे मान भी गये।

उनकी आलोचनाओं और नारों का सार संक्षेप में यह है :—

● हमें शाश्वत साहित्य की नहीं, ऐसे सामयिक-साहित्य की आवश्यकता है, जो वर्ग-संघर्ष को तीव्र कर मज़दूर-राज्य की स्थापना में सहायक हो।

● मध्यवर्ग के मनोविज्ञान, उसकी प्रेम-कहानियों अथवा सुख-दुख का वर्णन बुर्जुआ लेखकों की दिमाग़ी ऐयाशी का परिचायक है, प्रगतिशील लेखक को मध्यवर्ग के ह्रास (डिसइण्टेग्रेशन) और मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में उसके आगे बढ़ने का चित्रण करना चाहिए।

● छोटी-छोटी टुटपुँजिया समस्याओं का चित्रण करने के बदले, हमारे लेखकों को सामयिक समस्याओं और घटनाओं पर लिखना चाहिए। नौ-सैनिकों का विद्रोह, तैलंगाना का संघर्ष, वरली आदि का आन्दोलन क्यों हमारे लेखकों के क़लम से चित्रित नहीं हुआ ?

● पंत महादेवी की कविता हमारे काम न आयेगी। क्रांति का नेतृत्व हमारे जन-कवि करेंगे।

आलोचकों की इस रटन और बड़े मशीनी ढंग से लेखकों के आगे ये नुस्खे पेश करने पर मुझे शेखचिल्ली की एक कहानी याद आ गयी।

एक बार शेखचिल्ली महोदय योंही बेकार खड़े ऊँटों के एक क़ाफ़िले को देख रहे थे कि अचानक एक ऊँट खड़ा-खड़ा गिर पड़ा और तड़पने लगा। सारबान ने झट उसके गले के गिर्द एक चादर लपेटी, एक बड़ा सा पत्थर नीचे रखा और दूसरे से गर्दन के ऊपर चोट की। ऊँट झट स्वस्थ होकर उठ खड़ा हुआ।

यह चमत्कार देख कर शेखचिल्ली बड़े प्रभावित हुए। उन्हें हकीम बनने का बड़ा शौक था। यह नुस्खा हाथ आ गया तो एक चादर और दो बड़े पत्थर लेकर घर से निकल खड़े हुए और 'हकीम आया हकीम' का नारा बुलन्द करते गली-गली घूमने लगे। शहर में एक

बुढ़िया मरणासन्न थी। उसके बेटे उससे बड़ा प्रेम करते थे और चाहते थे कि जैसे भी हो वे अपनी माँ को ज़िन्दा रखें। शहर में सब नामी हकीमों को दिखाकर वे हार चुके थे। उन्होंने शेखचिल्ली महोदय से प्रार्थना की कि जैसे भी हो, वे उनकी माँ को बचायें।

शेखचिल्ली साहब ने आव देखा न ताव, बुढ़िया की गर्दन के गिर्द चादर लपेटी, एक पत्थर नीचे रखा और दूसरे से गर्दन पर चोट की। नतीजा जो हुआ, वह आप समझ सकते हैं। बुढ़िया ने दूसरा साँस नहीं लिया। बुढ़िया के बेटे शेखचिल्ली साहब को मारते-पीटते खलीफ़ा हारूँलरशीद के दरबार में ले आये। शेखचिल्ली ने सरबान की बात बतायी। खलीफ़ा मुस्कराये। सारबान को तलब किया। उसने आकर बताया कि ऊँट ने छोटा सा तरबूज़ निगल लिया था और वह उसके कण्ठ में फँस गया था, जिससे उसकी साँस रुक गयी थी। पत्थर की चोट से वह टूट गया और ऊँट स्वस्थ हो गया।

हमारे इन प्रगतिशील शेखचिल्लियों ने बिना अपने देश की ज़रूरतों को समझे, बिना अपने लेखकों की सबलता और निर्बलता को जाने, विदेशी प्रगतिशील आलोचकों के विभिन्न स्थिति में दिये गये नारों को अपनाकर, अपने देश के प्रगतिशील आन्दोलन का गला लगभग घोंट दिया है।

इनमें से हरेक तथ्य सच्चाई का कुछ अंश अपने में रखते हुए भी वर्तमान परिस्थितियों में कितना भ्रामक[1] है, यह इस छोटे से लेख में नहीं बताया जा सकता। तो भी एक-आध बात इन धारणाओं के सम्बन्ध में कहना ज़रूरी है :

● जहाँ तक शाश्वत अथवा सामयिक साहित्य की बात है— पहले तो यह कि इसका निश्चय लेखक के वश में नहीं कि उसकी चीज़ सामयिक होगी अथवा शाश्वत। हो सकता है, किसी असमर्थ लेखक

1—Falicious

द्वारा शाश्वत समझ कर लिखी गयी चीज़, छापे की स्याही सूखने के साथ ही मर जाय और किसी समर्थ लेखक द्वारा सामयिक समस्या का ऐसा चित्रण हो कि वह चिरकाल तक जीवित रहे। 'इण्टरनेशनल लिट्रेचर' १९५४ का ७ वां अंक मेरे कथन की ताईद करेगा। पिछले दिनों रूस में अधिकारियों ने इस बात की शिकायत की कि युद्धोत्तर रूसी साहित्य में नेगेटिव पात्रों का अभाव है, जिससे साहित्य वास्तविकता के स्पर्श से वंचित रह गया है। बस झट वहाँ के लेखकों ने धड़ाधड़ नेगेटिव पात्र गढ़ने शुरू कर दिये। लेखक-लेखक में कितना अन्तर है और किसी बात को पचा कर उसे साहित्य का अंग बनाने और बिना पचाये उगल देने में कितना भेद है, इसके लिए 'इण्टरनेशनल लिट्रेचर' का उपरिलिखित अंक पढ़ना ज़रूरी है। उसमें दो चीजें छपी हैं। 'स्तालिनग्राड में' तथा 'वनस्पति-विशेषज्ञ की डायरी'।* दोनों में नेगेटिव पात्र हैं, पर जहाँ पहली कृति के लेखक ने उन्हें ऐसे चित्रित किया है कि वे सजीव, यथार्थ और सच्चे लगते हैं, वहाँ दूसरी कृति में वे पुतलियों सरीखे हैं। यही कारण है कि जहाँ एक कृति महानता की हदें छूती है, दूसरी सम्पादक की प्रशंसा के बावजूद, असर नहीं करती।

● मध्यवर्ग के ह्रास और मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में उसकी मुक्ति की समस्या को आलोचक तो एक ही वाक्य में निपटा सकता है, पर किसी कहानी लेखक, उपन्यासकार या नाटककार के लिए उसका चित्रण उतना आसान नहीं है। हमारे देश की बात तो दूर रही, रूस या चीन के साहित्य में भी कोई एक उपन्यास या नाटक ऐसा न मिलेगा जो इस आधारभूत समस्या को लेकर लिखा गया हो। नाटक अथवा कहानी के लिए यह थीम बहुत छोटी है, इसका एक आध कोना ही कहानी या नाटक में चित्रित हो सकता है। हाँ, उपन्यास में यह पूर्णतया बाँधी जा

* 'In Stalingrad' तथा 'Notes of an Agronomits

सकती है, पर उसके लिए तालस्ताय के 'वार-एण्ड-पीस' का कैन्वेस चाहिए। हमारे यहाँ किस लेखक को इतना बड़ा उपन्यास लिखने की सुविधा प्राप्त है? सुविधा मिल भी जाय तो लेखक ऐसा चाहिए जिसे मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग दोनों के जीवन का बड़े निकट से, एक जैसा अनुभव प्राप्त हो। इसलिए उचित यही है कि मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के लेखक अपने-अपने क्षेत्रों में, सच्चाई के साथ, अपने अनुभवों को व्यक्त करते रहें। जिस वर्ग की जिस समस्या का उन्हें ज्ञान है, उसका यथार्थता से—यथा-सम्भव सामाजिक यथार्थता से—चित्रण करते रहें। उन समस्याओं पर नाटक, उपन्यास, कथा अथवा काव्य लिखें। तब उस समस्त साहित्य को पढ़ने से पता चलेगा कि किस प्रकार मध्यवर्ग का ह्रास हो रहा है और मज़दूर वर्ग जागरूक और संगठित होकर आगे बढ़ रहा है। एक कहानी, उपन्यास अथवा एक नाटक की यह समस्या नहीं।

● नौसैनिकों का विद्रोह, वरली और तेलंगाना के आन्दोलन, पंजाब का विभाजन और आसाम का अकाल, इनमें से एक-एक समस्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। निश्चय ही इनका चित्रण होना चाहिए। नहीं हुआ तो उसका कारण है कि प्रायः लेखक घटना-स्थल से मीलों दूर होता है। उन घटनाओं के सम्बन्ध में लिखना चाहने पर भी, कई बार वह ऐसा नहीं कर सकता। किसी घटना को लेकर प्रभावशाली कृति का सृजन करने के लिए घटना अथवा समस्या का फ़र्स्ट-हैण्ड अनुभव होना ज़रूरी है। बिना इसके कृति झूठी और प्रभाव-रहित होगी। हमारे जोशीले आलोचक प्रश्न करते हैं कि ऐतिहासिक चीज़ों पर क़लम चलाते समय लेखक को उनका फ़र्स्ट-हैण्ड अनुभव कहाँ होता है? पर यह बात वे भूल जाते हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं और सामयिक घटनाओं के चित्रण में अन्तर है। ऐतिहासिक घटनाओं में, जहाँ सामग्री

नहीं मिलती, लेखक कल्पना से काम ले लेता है, कल्पित घटनाओं और पात्रों का सृजन कर लेता है, पर सामयिक घटनाओं में ऐसी कोशिशें, उन लोगों के लिए जिन्होंने वे घटनाएं देखी हैं, कृतियों को हास्यास्पद बना देती हैं। पिछले दिनों हमारे इन्हीं आलोचकों ने भिमड़ी कान्फ्रेन्स में यह भी तय कर दिया कि बिना अनुभव के लेखक उन घटनाओं के बारे में अच्छी चीज़ें लिख सकता है। लेकिन उनके यह तय कर देने के बावजूद लेखक सफलता से वैसा नहीं कर सके। उर्दू-हिन्दी लेखकों में केवल कृष्णचन्द्र हैं, जो प्रायः ऐसा करते हैं। अपने व्यंग्यात्मक लेखों में, जहाँ अतिरंजना जायज़ होती है, उन्होंने चाहे अपेक्षाकृत सफल रीति से अनदेखी घटनाओं का वर्णन किया है, पर जहाँ उन्होंने गम्भीरता से किसी घटना को बिना देखे, उसका चित्रण करने का प्रयास किया है, वहाँ उनकी कृति अपनी सारी रोमानियत और प्रवहमान शैली के बावजूद, हास्यास्पद हो गयी है। उनकी कहानी 'फूल सुर्ख हैं' मेरे इस कथन का प्रमाण है। पिछले दिनों मैं कश्मीर गया था वहाँ के लेखकों में इस बात की आम शिकायत थी कि उर्दू लेखकों ने कश्मीर के बारे में जो कहानियाँ लिखी हैं, वे वहाँ के जीवन को ज़रा भी चित्रित नहीं करतीं और एकदम काल्पनिक हैं। रूस के लेखक यदि सामयिक घटनाओं और समस्याओं के बारे में सफलता से लिख रहे हैं तो उसका कारण यह है कि घटना-स्थल पर जाकर उसे निकट से देखने की तमाम सुविधाएं उन्हें प्राप्त हो सकती हैं।

तैलंगाना जाकर वहाँ की समस्याओं का सम्यक् अध्ययन करना तो दूर रहा, हमारे कई लेखक तो शायद हैदराबाद का थर्ड क्लास का किराया भी नहीं जुटा सकते। नौसैनिकों के विद्रोह का उपरिचित्रण तो किया जा सकता है, पर उनके विद्रोह की ठीक माहियत को व्यक्त करने के लिए उस विद्रोह के कारणों और विद्रोहियों की समस्याओं और उनके मनोविज्ञान का समझना और व्यक्त करना ज़रूरी है। बिना इसके

कृति निर्जीव होकर रह जायगी। हमारे लेखकों में से बहुतों ने पानी का जहाज़ तक नहीं देखा, सेना के जलयानों, उनके सैनिकों और उनके विद्रोह की बात तो दूर रही। फिर यह कितने लेखकों को पता है कि 'एस-एस गंगा' या 'एस-एस गोदावरी' जिनका नाम जलयानों जैसा है, वास्तव में जलयान नहीं, बल्कि स्थल पर नौसेना के शिक्षण-केन्द्र हैं।

सामयिक घटनाओं और आन्दोलनों पर लिखना बड़ा ज़रूरी है। पर वर्तमान-स्थिति में यह दो ही तरह सफलता-पूर्वक हो सकता है।

१—वे लेखक जो उन घटनास्थलों और आन्दोलनों के निकट हैं, उन पर लिखें। कृष्णचन्द्र, बेदी, यशपाल या किसी दूसरे कवि अथवा लेखक से तैलंगाना पर लिखने को कहने के बदले मख़दूम मुहिउद्दीन से कहना चाहिए कि वे तैलंगाना पर दो एक कविताएं नहीं, दस-बीस कविताएँ या दो एक ऐसे खण्ड-काव्य लिखें, जो उस संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को हमारे सामने उजागर करें।

२—वे लोग जो स्वयं लेखक नहीं, पर जिन्होंने उन घटनाओं को देखा है, अथवा जिन्होंने उन आन्दोलनों में भाग लिया है, अपने अनुभव उन लेखकों को सुनायें। उस सूरत में यह सम्भव है कि किसी लेखक के मन को कोई घटना या अनुभव ऐसे छू जाय कि वह उसे आत्मसात् कर अपना बना ले और सुन्दर प्रभावशाली कलाकृति में परिणत कर दे। सरगर्म कार्यकर्ताओं और लेखकों के इस सहयोग के बिना सामयिक घटनाओं और आन्दोलनों पर साधारण हिन्दी लेखक अपनी वर्तमान स्थिति में सुन्दर कलापूर्ण और प्रभावशाली तौर पर नहीं लिख सकता। जहाँ तक कलाहीन ढंग से उन समस्याओं और आन्दोलनों पर प्रकाश डालने का अथवा उनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने का सम्बन्ध है, हमारे जोशीले आलोचकों ने यह काम बखूबी किया है। वे जनता को कितना अपने साथ ले सके हैं, यह बात

वही जानते हैं—कहानी, कविता अथवा उपन्यास से प्रभाव की आशा रखी जाती है और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए लेखक को समस्या का पूरा अनुभव होना चाहिए या दूसरे का अनुभव उसका अपना अनुभव बन जाना चाहिए।

ज़दानौव ने अपनी रिपोर्ट में लेनिनग्राड के लेखकों को लताड़ा था, रद्दी चीज़ें लिखने पर पत्र को बन्द करने की घोषणा की थी और पत्र को निकालने के लिए एक शर्त भी रखी थी :

'Let the production of our Leningrad writers
be good in respect to the ideology and artistry'*

● रही ऊँची कविता और जन-गान की बात-तो इस विषय पर हमारे आलोचक इस अंतिम शब्द की ओर ध्यान नहीं देते, जिसके बिना किसी साहित्यिक कृति में आइडिआलोजी (आदर्श-दर्शन) का कितना भी बखान क्यों न हो, वह नितान्त प्रभावहीन और फूहड़ रहेगी। उस कला-कौशल (Artistry) को पैदा करने के हेतु लेखक के लिए कलाकृति में वर्णित घटना अथवा जीवन का निकटस्थ अनुभव नितान्त आवश्यक है।

दिल्ली की उर्दू मासिक पत्रिका 'शाहराह' में भी सरदार जाफ़री ने 'वामिक़' साहब के पत्र के उत्तर में इस विषय पर काफ़ी प्रकाश डाला है। उन्होंने ठीक कहा है—ऊँची कविताओं और जन-गीतों की ज़रूरत हमें साथ-साथ रहेगी। जन-गान सामयिक घटनाओं के बारे में हमारी जनता को शिक्षा देंगे और ऊँची कविताएँ उनके मानसिक स्तर को ऊँचा करेंगी।

माओ ने इसीलिए चीन के प्रगतिशील लेखकों से दो तरह की

---

*हमारे लेनिनग्राद के लेखकों की कृतियाँ आदर्श-दर्शन और कला दोनों की दृष्टि से श्रेष्ठ होनी चाहिएं।

कविता लिखने को कहा है—एक वह, जो नीचे स्तर की है (अश्लील या घटिया से मतलब नहीं) और जिसे जनता आसानी से समझ लेती है। इसका उद्देश्य जनता को शिक्षित करना है। दूसरी वह, जिसे जनता आसानी से नहीं समझ सकती। इस कविता का उद्देश्य जनता के स्तर को ऊँचा करना है। ऊँचे दर्जे की शायरी, जिसका मक़सद जनता का स्तर ऊँचा करना है, गैर-अव्वामी (जनता-विरोधी) क़रार देकर छोड़ दी जाय, इससे बड़ी मूर्खता और कोई नहीं हो सकती। हमारे कवि अपनी कविताओं को नागरिक संस्कृति के गुणों से सुशोभित करते हुए उसे जन-गान और जन-संस्कृति के निकट लायें, काव्य कला का यथा-सम्भव साधारणीकरण करें, यह माँग उचित है और आलोचकों को अपने कवियों से करनी चाहिए। पर जैसे जन-संस्कृति की बहुत सी चीज़ें नहीं अपनायी जा सकतीं, वैसे ही नागरिक-संस्कृति और उससे उपजी हुई कला का परिमार्जन ज़रूरी है। एक ओर हमें हमदर्दी, पर स्पष्ट आलोचना से सामन्त युग के कुप्रभावों को अपने साहित्य से दूर करना है, दूसरी ओर उच्चकोटि की प्रगतिशील-कृतियों के सृजन से नयी प्रतिभाओं का पथ-प्रदर्शन कर, अपने साहित्य को सबल, सशक्त और जनवादी बनाना है। लेकिन नागरिक-संस्कृति ने कला को जो सौष्ठव, सुन्दरता और जो फ़ार्म दिया है, उसे पहले सँजोकर। श्री राजेन्द्र सिंह बेदी ने, जो कहानी-कला के सौष्ठव की दृष्टि से, उर्दू साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं, एक जगह ठीक ही लिखा है:—

"हमारे पैशरौओं[१] ने हैयत[२] के सिलसिले में जो तजरुबे किये हैं, उन्हें हम भुला नहीं सकते। हम नया फ़ार्म[३] नया कण्टेण्ट[४] देंगे, लेकिन पुराने फ़ार्म और पुराने कण्टेण्ट को जज़्ब और अख़्ज़ करके[५]। हम मोपासां के कण्टेण्ट को छोड़ सकते हैं, लेकिन उसके फ़ार्म

१—पेशरौ = पूर्ववर्ती २—हैयत = आकार-प्रकार ३—फ़ार्म = रूप-गठन ४—कण्टेण्ट = सामग्री ५—जज़्ब और अख़्ज़ करके = पचाकर और सँजोकर।

से ज़रूर फ़ायदा उठायेंगे। हम फ़्लाबियर की चीज़ों के नफ़्से-मज़मून[1] से मुत्तफ़िक[2] नहीं और न पैरे लुई के ज़हनी तईउश[3] से, लेकिन हम देखेंगे कि हमारे कण्टेण्ट में फ़्लाबियर और पैरे लुई की ज़बान और उसकी रंगीनी आती है कि नहीं। यही बात अपने कालीदास, तुलसीदास और इक़बाल (और मैं कहूँगा कि पंत और महादेवी) के बारे में कही जा सकती है।"

नये प्रगतिशील कवि को, संत और वैष्णव कवियों ही का नहीं, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी और बच्चन का अच्छी तरह अध्ययन चाहिए। अपने इन गुरुजनों से कला का सौष्ठव और सुन्दरता ग्रहण कर अपनी ओर से नया कण्टेण्ट और फ़ार्म जनता को देना चाहिए। वह ध्यान से अध्ययन करेगा तो पायेगा कि कहीं-कहीं वह उनसे कण्टेण्ट भी लाभदायक तौर पर ले सकता है। प्रसाद के 'कंकाल' और 'कामायनी' के प्रगतिशील पहलू की बात न करें तो भी बाद के कवियों में ऐसे चरण मिल जाते हैं जिनका प्रगतिशील कवि लाभ उठा सकता है।

घेर ले छाया अमा बन
आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमा ले, यह घिरा घन
अन्य होंगे चरण हारे
और हैं, जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे
दुख-व्रती, निर्माण-उन्मद
ये अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-बेला

संकटकाल उपस्थित होने पर प्रगति के पथ का कौन योद्धा है जो महादेवी की इन पंक्तियों से शक्ति ग्रहण नहीं कर सकता?

१—नफ़्से-मज़मून = आधारभूत-विचार २—मुत्तफ़िक = सहमत ३—ज़हनी तईउश = दिमाग़ी-ऐयाशी।

हमारे देश के साहित्य की परम्परा चिरकाल से जनवादी रही है। बीच में कुप्रवृत्तियों की हवाएँ भी चलती रही हैं, पर जीवंत-साहित्य सदा से जनवादी रहा है। रीतिकाल के कवियों ने कितने भी सुन्दर दोहे क्यों न लिखे हों और रसिकगण उन पर कितना भी सिर क्यों न धुनते रहे हों, पर सूर, तुलसी और कबीर के दोहों की तरह वे जन-जन की ज़बान पर नहीं चढ़ सके।

आधुनिक हिन्दी कविता उस धारा से कुछ हट गयी है। हाँ आधुनिक गद्य उसी जनवादी पथ पर धीर-गति से अग्रसर है। हुआ यों कि जहाँ गद्य ने अपनी प्रेरणा सामयिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से पायी, वहाँ पद्य सामयिक जन-जीवन से नहीं, विगत वैभव तथा पुरातन विचारधारा से प्रभावित रहा। आधुनिक हिन्दी कविता ने प्रसाद का और गद्य ने प्रेमचन्द का अनुकरण किया और जिन लोगों ने दोनों के साहित्य का बग़ौर अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि एक विगत वैभव के सपने देखता था, दूसरा सामयिक जीवन को बेहतर बनाना चाहता था—हिन्दी गद्य प्रेमचन्द से प्रेरणा पाकर सुगम, सुबोध और जन-जीवन के निकट रहा और हिन्दी पद्य, क्लिष्ट, संस्कृत-निष्ठ और गरिष्ठ होता गया। पुराने कवियों के अपेक्षाकृत चुप होने पर, नये प्रभाव आये भी तो भारतीय जन-जीवन से नहीं, बल्कि इलियट, बादलेयर और मेलार्मे आदि विदेशी व्यक्ति-वादी कवियों से। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी कविता जन-जीवन के राज-पथ पर अग्रसर होने के बदले अनजाने, अँधेरे, पथों पर टामकटोये मार रही है। उर्दू में भी मुग़ल साम्राज्य की अवनति के साथ ग़ज़ल महबूब-ो-माशूक़, हिज्रो-फ़िराक़, गुल-ो-बुलबुल, बादा-ो-सहबा, साग़िर-ो-मीना का मॉज़ूल[1] बन कर रह गयी थी। ग़ालिब की बुलन्द-परवाज़ी

१ मॉज़ूल = अवलेह

हर किसी के बस में न थी, सामन्ती प्रभाव के फल-स्वरूप रीतिकालीन वासना ग़ज़ल में भी आयी और जैसे रीतिकाल के कवि जनता के दुख-सुख की अभिव्यक्ति के बदले उपमाओं, अलंकारों और नायिका के नख-सिख-वर्णन में उलझे हुए थे, उसी तरह ग़ज़ल-गो भी ज़बान के चटख़ारे, मज़मून की बन्दिश और नाज़ुक-ख़याली के चक्कर में पड़े थे—

नाज़ुकी उन पै 'ख़तम' है जो यह फ़रमाते हैं
फ़र्शे-मख़मल पै मेरे पाँव छिले जाते हैं।

उस्तादों की देखा-देखी आम लोग इस तरह की शायरी पर सिर धुनने लगे। तभी 'हाली' ने उर्दू शायरी में नयी तर्ज़ की बिना डाली। उसे सामयिक-सामाजिकता प्रदान की। इक़बाल ने उस परम्परा को आगे बढ़ाकर और भी गतिशील बनाया। 'हिन्दी-तराना', 'नया शिवाला' जैसी कविताएँ तो शायर के क़लम से निकलते ही जनता की ज़बान पर जा चढ़ीं।

उट्ठो, मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो
काख़े-उमरा[1] के दर-ो-दीवार हिला दो!
सुलतानिए-जमहूर[2] का आता है ज़माना
जो नक्शे-कुहन[3] तुमको नज़र आये, मिटा दो!
जिस खेत से दहक़ां[4] को मयस्सर नहीं रोटी
उस खेत के हर ख़ोशा-ए-गंदुम[5] को जला दो!

'खुदा का फ़रमान' नाम की अपनी इस कविता में इक़बाल ने किसान-मज़दूर तबक़े का जो पक्ष लिया, उसे उर्दू के कवियों ने नहीं

१—काख़े-उमरा = अमीरों के महल २—सुलतानिए-जमहूर = जनता की हुकूमत ३—नक्शे-कुहन = पुराना निशान, ४—दहक़ाँ = किसान ५—ख़ोशा-ए-गंदुम = गेहूँ की बाली।

छोड़ा। न केवल यह, बल्कि इकबाल ने 'नया शिवाला' आदि अपनी कविताओं में हिन्दी-उर्दू-मिली जिस गंगा-जमुनी ज़बान का प्रयोग किया, वह आधुनिक उर्दू कविता में और भी फली फूली।

इक़बाल अपनी प्रशस्त जनवादी परम्परा को छोड़ साम्प्रदायिकता की संकीर्णता में भटक गये, पर उन्होंने जो नयी राह दिखायी थी, आधुनिक उर्दू कवि निरन्तर उस पर अग्रसर हैं। हफ़ीज़ जालन्धरी, जोश मलीहाबादी, अख्तर शेरानी, फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़', फ़िराक गोरखपुरी, अली-सरदार जाफ़री, कैफ़ी ऑज़मी, मजाज़ और वामिक; सलाम और मखमूर; जगन्नाथ आज़ाद और जानिसार अख्तर आदि कवियों ने हमारे बदलते हुए राजनीतिक और सामाजिक जीवन के हर पहलू पर प्रगतिशील कविताएँ लिखीं। और तो और इधर 'मजरूह' सुलतानपुरी जैसे कवियों ने ग़ज़ल तक को भी नया कण्टेण्ट प्रदान किया है।

ज़रूरत इस वक्त इस बात की है कि उर्दू का यह सारा सरमाया शीघ्रातिशीघ्र देवनागरी लिपि में मुन्तक़िल कर दिया जाय, ताकि उसके असर से हिन्दी कहानी की तरह हिन्दी कविता भी हमारे समाजिक और राजनीतिक जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करे और ह्रासोन्मुख पश्चिमी कविता से असर कबूल करने के बदले देश की मिट्टी से उपजी कविता से प्रभावित हो और प्रेरणा ग्रहण करे।

हिन्दी में उपन्यास कहानी और नाटक ने काफ़ी उन्नति की है। उर्दू में उपन्यास और नाटक साहित्य उतना उन्नत नहीं हो सका। 'ताज' का नाटक 'अनारकली' और असमत का उपन्यास 'टेढ़ी लकीर' ऐसे दीप-स्तम्भों में से हैं, जो स्वयं तो रोशनी पहुँचाते हैं, पर दूसरे दीप नहीं जला सके। उर्दू कविता देवनागरी लिपि में हो जायगी तो देवनागरी लिपि सीखने वाली पौध के सामने हमारा प्रगतिशील साहित्य पहली बार अपने मिले-जुले सम्पूर्ण भव्य रूप में जल्वागर होगा।

यहीं मैं दो शब्द हिन्दी-उर्दू-समस्या के सम्बन्ध में भी कह दूँ। हिंदी-उर्दू-समस्या वास्तव में लिपि की समस्या है। जब यह बात सभी मानते हैं कि हिन्दी-उर्दू एक ही पेड़ की दो डालियाँ हैं तो इन डालियों को खूराक भी एक ही मिट्टी से मिलनी चाहिए। एक डाली पर बहुत सी मिट्टी टाट से बाँध कर उसे पानी देना तभी श्रेयस्कर हो सकता है, जब उस डाल को काट कर किसी दूसरी जगह ले जाना और लगाना स्वीकार हो। जो लोग ऐसा चाहते थे, वे उसे ले गये। अब ऊपर से लादी गयी मिट्टी को हटाकर दोनों डालियों को एक ही लिपि से अपनी खूराक लेनी चाहिए।

हिन्दी-उर्दू-समस्या पर पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में बहुत वाद-विवाद होता रहा है, लेकिन एक बात को दोनों पक्षों ने माना है। वह यह है कि यदि हिन्दी से संस्कृत के क्लिष्ट शब्द और उर्दू से अरबी-फ़ारसी के भारी-भरकम अलफाज़ निकाल दिये जायँ तो दोनों ज़बानों में कोई अन्तर न दिखायी देगा। दस वर्ष पहले उर्दू के एक लेखक ने लाहौर की प्रसिद्ध पत्रिका 'अदबी दुनिया' में एक ऐसी कहानी लिखी थी जिसमें एक भी हिन्दी का शब्द न था। उनका दावा था कि उस कहानी में उन्होंने वे ही शब्द प्रयोग किये हैं, जो हिन्दी की प्रसिद्ध लोकप्रिय मासिक पत्रिका 'भाषा' में छपते हैं। उस कहानी से उन्होंने यह बात सिद्ध करनी चाही थी कि उर्दू ही देश की लोकप्रिय भाषा है।

उनका दावा बहुत हद तक सच्चा था। उर्दू इसी देश की भाषा है और हिन्दी में उर्दू के अधिकांश शब्द प्रयोग किये जाते हैं। यदि कोई जोशीला हिन्दी लेखक भी चाहे तो अल्लामा इक़बाल और हफ़ीज़-जालन्धरी से लेकर उर्दू के प्रसिद्ध कहानी लेखक सआदत हसन मण्टो तक की कृतियों में से ऐसे बेशुमार हिन्दी शब्द निकालकर एक वैसी ही कहानी गढ़ सकता है, जिसमें एक भी उर्दू का शब्द न हो।

उन दोनों कहानियों से यही बात सिद्ध होगी कि दोनों ज़बानें वास्तव

में एक हैं, यद्यपि एक में संस्कृत का रंग ग़ालिब है और दूसरी में अरबी का। देश की बदली परिस्थिति में इस एक ही भाषा के दो रूपों को दो लिपियों में लिखना और सरकार से इस बात की माँग करना कि वह उर्दू लिपि को प्रादेशिक लिपि बनाये, एक ऐसा क़दम है जो हमें आगे नहीं, पीछे ले जाता है। हमारी क़ौमी ज़बान के इरतिक़ा[1] के रास्ते में जो सबसे बड़ी रुकावट थी, वह एक ही भाषा का दो लिपियों में लिखा जाना था। यह कोशिश एक ही ज़बान के इन दो रूपों को पास-पास न आने देती थी।

यही कारण है कि गांधी जी की तमाम कोशिशों के बावजूद हिन्दुस्तानी ज़बान न बन सकी। उर्दू के पैरोकार उसमें फ़ारसी और अरबी के शब्द भरते गये और हिन्दी के अनुयायी संस्कृत के। आज यदि उर्दू भी देवनागरी में लिखी जाय तो यह ठीक है कि देवनागरी लिपि में भी ये दोनों क्लिष्ट रूप साथ-साथ चलेंगे—कुछ लोग संस्कृत-निष्ठ-हिन्दी लिखेंगे, और दूसरे अरबी-फ़ारसी-ज़दा उर्दू, पर साथ ही साथ एक ऐसी ज़बान भी बनती चली जायगी, जिसे हम सच्चे अर्थों में हिन्दुस्तानी ज़बान कह सकें।

इस वक्त पंजाबी भाषा के तीन रूप हैं। हिन्दू उसे देवनागरी लिपि में लिखते हैं, सिक्ख गुरुमुखी में और मुसलमान उर्दू लिपि में। इसमें भी सन्देह नहीं कि तीनों की पंजाबी में तीन तरह का पुट रहता है। लेकिन यदि पंजाबी को प्रादेशिक भाषा बनाया जाय और तीन लिपियों की माँग की जाय तो इससे बड़ी हास्यास्पद बात कोई न होगी। बहुत ही अच्छा हो यदि पंजाबी देवनागरी लिपि में लिखी जाय, पर यदि बहुमत यह चाहे कि उसे गुरुमुखी लिपि ही में लिखा जाय तो उर्दू तथा देवनागरी लिपि में पंजाबी लिखने वालों को उसे मानना होगा। यही बात उत्तरप्रदेश की भाषा पर लागू होती है। एक ही ज़बान को

१—इरतिक़ा—तरक़्क़ी।

सीखने के लिए दो लिपियों को क़ायम रखना न केवल ग़ैरजमहूरी और अन्यायपूर्ण है, बल्कि देश की बदली परिस्थिति में साम्प्रदायिकता पर मोहर लगाने के बराबर है। प्रगतिशील-लेखक-संघ सदा साम्प्रदायिकता से दूर रहा है और प्रगतिशील विचारधारा की अगुवाई करता रहा है। इस वक्त ज़रूरत इस बात की है कि उर्दू के ज़खीरे को देवनागरी लिपि में मुन्तक़िल किया जाय और केन्द्रीय और राष्ट्रीय सरकारों से इस बात की पुरज़ोर माँग की जाय कि वे 'इन्शा अल्लाह खाँ' से लेकर 'ताजवर सामरी' तक—उर्दू के सारे के सारे ज़खीरे को देवनागरी में परिणत करने के लिए एक सरकारी प्रकाशन-विभाग खोलें, ताकि न केवल देवनागरी लिपि सीखने वाले उर्दू-दां तबक़े के बच्चे अपने उस सरमाये से महरूम न हों, बल्कि हिन्दी-भाषी बच्चे भी उससे लाभ उठायें।

यह कदम साहस की ज़रूर माँग करता है, लेकिन प्रगतिशील लेखकों से इस बात की आशा रखी जा सकती है कि इस मामले में वे साहस से काम लें। १६४८ में पंचगनी से इलाहाबाद आते हुए जब मैं बम्बई रुका था तो श्री सरदार जाफरी ने यही बात कही थी कि यदि सारे-का-सारा उर्दू सरमाया देवनागरी लिपि में मुन्तक़िल हो जाय तो उन्हें देवनागरी को राष्ट्र-लिपि मानने में कोई एतराज़ नहीं। आज उनका क्या मत है, मैं यह नहीं जानता, लेकिन उन्होंने इस मामले में अगुवाई नहीं की, इसका मुझे अफ़सोस है।

हो सकता है गजगामिनी सरकारी मशीनरी, उतनी जल्दी हरकत में न आये, (यद्यपि उसे हरकत में लाने के लिए दूसरी संस्थाओं को अपने साथ लेकर प्रगतिशील लेखकों को अनवरत आन्दोलन करना चाहिए) पर उस सूरत में हमें निजी तौर पर उर्दू की चीज़ों को उसी रूप में देवनागरी लिपि में छापने या छपवाने का प्रयास करना चाहिए। अभी सेण्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद से फ़िराक़ साहब की चीज़ों का एक संग्रह 'इन्द्रधनुष' के नाम से छपा है, उसकी काफ़ी माँग है, औ

श्रीपतराय ने सरस्वती प्रेस से सरशार को हिन्दी में कर ही दिया है। ये कोशिशें काफ़ी सफल हुई हैं। सौभाग्य से प्रगतिशील लेखक संघ में कुछ लेखक-प्रकाशक भी हैं। दूसरे प्रकाशकों का मुँह न देख, हम में से हरेक को साल में दो पुस्तकें ऐसी छापनी चाहिएँ जिनमें केवल लिपि बदली हो। आसानी के लिए पहले कहानियाँ और कविताएँ ली जा सकती हैं। मुझे पूरी आशा है, कि यदि कुछ कष्ट सहकर भी यह काम किया जाय तो दो-तीन साल में दूसरे प्रकाशक यही करने लगेंगे और सरकार की मदद की उतनी ज़रूरत न रहेगी। आशा है, प्रगतिशील लेखक संघ इस मामले में गांधी जी की ढुल-मुल नीति से काम न लेगा और निश्चित रूप से इस मामले को प्रगतिशील ढंग से तै कर, जन-भाषा की उन्नति के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट दूर कर देगा।

मैं पिछले बारह-पन्द्रह वर्षों से प्रगतिशील आन्दोलन के साथ हूँ। मैंने इसमें कोई सरगर्म और स्पेक्टेकुलर (दर्शनीय) भाग चाहे न लिया हो, पर मैं इसकी हर गति-विधि का बड़े ध्यान से अध्ययन करता रहा हूँ। इसी आन्दोलन से मैंने साहित्य-सृजन का ठीक मार्ग और लेखक के रूप में अपने जीवन और कृतित्व की सार्थकता पायी है। मैंने इस आन्दोलन को तूफ़ान पर आये महानद सा, अपनी प्रगति के वेग में संकीर्णताओं के तृण-पात को अपने साथ बहाते और विस्तृत भूमि पर फैलते हुए भी देखा है और फिर पिछले कुछ वर्षों में आन्तरिक विग्रह के रेगिस्तान में कई धाराओं में बँट, अपनी शक्ति खोकर, क्षीण से क्षीणतर होते हुए भी पाया है। यदि प्रगतिशील लेखक चाहते हैं कि प्रगतिशील आन्दोलन का महानद अपनी पुरानी शक्ति को पुनः पा ले तो एक ओर उन्हें पिछले चन्द वर्षों के इतिहास पर आत्मालोचना की आँखों से दृष्टि डालनी होगी, दूसरी ओर आगे के लिए अच्छे सोच-विचार के बाद अपना कार्यक्रम बनाना होगा।

पहली नवम्बर १९५२ में इलाहाबाद में जो प्रादेशिक प्रगतिशील-लेखक-सम्मेलन हुआ, उसको लेकर प्रेस में जो शुल-गपाड़ा मचा और एक दो साहित्यिक गोष्ठियों में, प्रगतिशील लेखकों के संबन्ध में, उन लेखकों द्वारा जो कभी प्रगतिशील थे, जैसी तीखी बातें कही गयीं, उनसे हम चौंके और हमने एक दूसरे से प्रश्न किये कि अमुक व अमुक लेखक क्यों इतना कटु है? लेकिन यदि हम देखें तो पायेंगे कि वे लेखक भी पत्थर के नहीं, हाड़-मांस के इंसान हैं। उनके अहसास की इन्द्रियाँ तो साधारण लोगों की अपेक्षा कहीं नाज़ुक हैं। प्रगतिशील आलोचकों ने अपने शौक की सरगर्मी में उन्हें शत्रु मान कर कहनी-अनकहनी बातें कहीं और यों उन के लिए अपने दरवाज़े स्वयं बन्द कर लिये। आज जब हमने अपनी बाहें उनके लिए खोल दी हैं तो हम हैरान होते हैं कि वे उन खुली हुई बाहों का स्वागत क्यों नहीं करते? बेइख्त्यार हमारे गले से क्यों नहीं आ चिमटते? लेकिन जैसा कि मैंने कहा, वे मिट्टी की मूर्तियाँ नहीं कि हमारे इशारे पर नाचें। उन्हें प्रगतिशील आन्दोलन के दायरे में वापस लाने के लिए संयुक्त मोर्चे पर दस-पाँच लेख लिखने के बदले काफ़ी सोच-विचार के बाद डट कर काम करना होगा। स्वस्थ और कला-पूर्ण साहित्य और सृजनशील हमदर्द आलोचना से उनके विश्वास को पुनः प्राप्त करना होगा। मशीनी ढंग से चन्द नारे को लगाने के बदले साहित्य-सृजन की कठिनाई और लेखकों के मनोविज्ञान को समझना होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि इधर हमारे प्रगतिशील आन्दोलन में जो संकीर्णता रही, उसके कारण भी कुछ लोग इससे अलग हो गये, लेकिन यदि आप गत पाँच-छै वर्षों के इतिहास पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि इस बीच में कुछ ऐसी अस्वस्थ प्रवृत्तियों ने भी सिर उठाया जो प्रगतिशील आन्दोलन के कारण दब गयी थीं। और जो न केवल अब हमारे

आन्दोलन का मार्ग अवरुद्ध कर रही हैं, बल्कि नयी प्रतिभाओं को साथ लेकर संकीर्ण, अँधेरे पथों पर भटक रही हैं। व्यक्तिवाद, क्षणवाद, शून्यवाद, प्रयोगवाद और न जाने कैसे-कैसे वाद साहित्य का रुख जनता के दुख-दर्द और संघर्ष की अभिव्यक्ति के मार्ग से मोड़ कर, दिमागी ऐयाशी की ओर लगा रहे हैं।

प्रगतिवादी लेखक आनन्द और सुन्दर की आवश्यकता से इनकार नहीं करता। आदिकाल से मानव का सारा संघर्ष इस जीवन को सुन्दर और सुखद बनाने के हेतु होता रहा है, पर प्रगतिशील लेखक सुन्दरता की सृष्टि में असुन्दर को नहीं भूलता। वह उस असुन्दर की भव्यता को सत्य और शिव की यथार्थता और उपादेयता की पक्की नींवों पर खड़े देखना चाहता है। केवल कला के लिए कला की सृष्टि करने वाले आनन्दवादी लेखक कूड़े के महान ढेर पर बड़े इतमीनान से बैठे हुए उस व्यक्ति-से हैं जो कूड़े की ग़लाज़त को भूलने के लिए इत्र की शीशी नाक से लगाये हो।

प्रगतिवादी इत्र से घृणा नहीं करता। लेकिन वह उस कूड़े को भी नहीं भूलता। वह उसे हटा देना चाहता है ताकि वह इत्र का ठीक उपभोग कर सके। यदि इस सफ़ाई में इत्र की शीशी उसकी नाक से हट भी जाती है तो वह उसकी चिन्ता नहीं करता। किलबिलाती हुई मखलूक़ के दुख-दर्द को भुला कर सुख के सपने देखने के बदले वह पहले उसके ग़म को अपना लेना चाहता है, फिर सुख के सपने देखना चाहता है।

व्यक्तिवादी सोचता है कि जब कालिदास अपने अमर काव्यों का सृजन कर रहा था तो क्या दुख-दर्द व गन्दगी-ग़लाज़त न थी। उस महान कलाकार ने जब उस विष को शंकर की तरह स्वयं पी कर रसिकों को केवल अमृत पिलाया तो आज का कलाकार भी क्यों वैसा न करे? हमारे व्यक्तिवादी कला-पारखी आज के संघर्षमय जीवन में रत लेखक

से भी कुछ ऐसी ही वांछा रखते हैं कि वह स्वयं तो पानी में गले तक डूबा, कीचड़ में लथपथ रहे, पर किनारे पर खड़े उनको उस कीचड़ का छींटा तक न लगने दे, उनके हाथों में चुपचाप कमल तोड़-तोड़ कर देता जाय, जिनके रंग, रस और गंध से शराबोर होकर वे जीवन के रोग, शोक और पीड़ा को भूले रहें। पर आज के संघर्षमय जीवन का प्रगतिशील कलाकार लिखने से पहले सोचता है—कस्मै हविषाय ? किसके नाम से वह साहित्य के इस महायज्ञ में आहुति देता है ? किसके लिए लिखता है ? कालिदास के समकालीन राजाओं-महाराजाओं का स्थान लेने वाले आज के सेठ-साहूकारों और उच्च-वर्ग के लिए ? अथवा कीचड़ में लथपथ अपने ही जैसे लाखों दूसरे लोगों के लिए ? और यदि वह इन दूसरे पाठकों के लिए लिखता है (वह स्वयं उच्च-वर्ग से सम्बन्धित है तो भी उसकी जागरूकता यदि उसे जनता के लिए लिखने को विवश करती है) तो प्रकट है कि वह अपने पाठकों को कमल का सौंदर्य नहीं, तालाब में फैली हुई जड़ें, कीचड़ फिसलन, गढ़े और वह सब कुछ दिखलायेगा जिसे वे तालाब से साफ़ करना चाहते हैं।

कहते हैं कि जब रोम धू-धू करके जल रहा था तो नीरो बैठा मज़े से बाँसुरी बजा रहा था। यह भी सुनते हैं कि नीरो ने स्वयं ही रोम को आग लगाने का आदेश दिया था। इस समय हमारे चारों ओर जो आग लगी है, वह चाहे हमने नहीं लगायी, पर यदि हम आग की लपटों से बेपरवाह अपनी उस आनन्दवादी बाँसुरी की धुन में मस्त रहते हैं तो नीरो और हममें कोई अन्तर नहीं रह जाता।

आज व्यक्तिवादी अपने आपको नदी की धारा की उपेक्षा करने वाला द्वीप समझता है, वह यह नहीं देखता कि द्वीप का अस्तित्व उसकी अपनी सत्ता का परिचायक नहीं, नदी के ज्वार की क्षीणता का साक्षी है। कमज़ोर आदमी पर कौन सी बीमारी आक्रमण नहीं करती ;

क्षीण नदी में द्वीप तो क्या झाड़-झंखाड़ तक अपनी सत्ता मानने लगते हैं। प्रगतिशील आन्दोलन की गति के मन्द होते ही साहित्य की नदी में जहाँ-तहाँ द्वीप और झाड़-झंखाड़ उभर आये हैं जो नदी के पानियों से नितान्त उदासीन हो, सम्पन्नता के सूरज की किरणों का रस ले रहे हैं। पर यदि प्रगतिशील लेखक और आलोचक परस्पर विग्रह को छोड़कर फिर मिल बैठेंगे तो प्रगतिशील आन्दोलन फिर ज़ोर पकड़ेगा। तब निश्चय ही यह झाड़-झंखाड़ और नन्हें-नन्हें द्वीप ही नहीं, बड़े-बड़े गिरि-खण्ड भी इसके पानियों में लुक जायेंगे और वे सब अवरोध अपने मार्ग से हटा कर यह आन्दोलन अपनी धारा को साहित्य के महानद की उस धारा में मिला देगा जो वाल्मीकि की रामायण से कबीर के दोहों और इकबाल के 'फरमाने खुदा' से सरदार के 'एशिया जाग उठा' तक जनता के सुख-दुख को साथ सँजोये हमारे साहित्य में बहती आयी है।

अपने व्यक्तिवादी लेखक मित्रों और उन साथियों से जो हम से विलग हैं, मैं केवल इतना कहूँगा कि मित्रो, आओ, आज के संकट-काल में लेखक के रूप में हम सब मिल कर अपने कर्त्तव्य और कृतित्व का जायज़ा लें। हमारे साथ आओ। हमें बिरादराना तौर पर हमारी ग़लतियाँ बताओ और हमारी सुनो।

आओ, जहाँ का ग़म अपना लें,
बाद में सब तदबीरें सोचें!
बाद में सुख के सपने देखें,
सपने की ताबीरें सोचें!

और अपने संकीर्ण प्रगतिशील आलोचक से निवेदन करूँगा कि मित्र, हमारा साहित्य अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। तुम लेखकों के कृतित्व से संतुष्ट नहीं तो हमदर्दी से उन्हें उनकी ग़लतियाँ बताओ, उन पर अपनी निर्मम छुरी का इस तरह प्रहार न करो कि वे साहित्य-सृजन

से विमुख हो जायँ। क्योंकि यही लेखक तो तेरा सरमाया है—तेरे हाथ हैं—फ़ैज़ के शब्दों में :

तेरा सरमाया, तिरी आस यही हाथ तो हैं,
और कुछ भी है तेरे पास ? यही हाथ तो हैं !
तुझको मंज़ूर नहीं ग़लबा-ए-ज़ुलमत[1] लेकिन,
तुझको मंज़ूर है ये हाथ क़लम[2] हो जायें !
और मशरिक़ की कमींगह[3] में धड़कता हुआ दिन
रात की आहनी मैयत[4] के तले दब जाये !

दोस्त, इन हाथों को तोड़ने के बदले उन्हें मज़बूत कर, ताकि वह सुबह जिसके इन्तज़ार में तू बेकल है शीघ्र ही उदित हो ![5]

१—ग़लबा-ए-ज़ुलमत = अन्धकार का अधिकार २—क़लम हो जायें = कट जायँ ३—कमींगह = घात की जगह, ४—मैयत = शव (५) इस लेख का अधिकांश भाग प्रगतिशील-लेखक-संघ के प्रादेशिक सम्मेलन १९५२ को स्वागताध्यक्ष के रूपमें अश्क जी द्वारा पढ़ा गया था। बाद में लेख के रूप में प्रस्तुत किया गया।

हिन्दी कथा-साहित्य में गति-रोध

हिन्दी साहित्य में गति-रोध उपस्थित है, यह बात आज कुछ वर्षों से लगातार सुनने में आ रही है। पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशकों की सूचियों को देखने पर तो ज़रा भी ऐसा नहीं लगता कि इस बात में कोई तथ्य है। उधर दृष्टि डालने पर तो लगता है कि हिन्दी साहित्य बाढ़ पर आये हुए महानद सा दिशाओं का ज्ञान खोकर, बढ़ा चला जा रहा है और शीघ्र ही सारे देश के विस्तार को पा लेगा। फिर क्या बात है कि इस गति और विस्तार के बावजूद, कुछ आलोचकों को ऐसा आभास होता है कि साहित्य की धारा अवरुद्ध हो गयी है। प्रगतिशील हों या प्रतिगामी—दोनों कैम्पों ही से यह आवाज़ सुनायी दे जाती है।

हिन्दी साहित्य में गतिरोध की बात पहली बार प्रेमचन्द के देहावसान के पश्चात सुनायी दी थी। तब यदि कुछ आलोचकों ने आवाज़ उठायी कि हिन्दी कहानी की गति रुक गयी है तो कुछ दूसरों ने नारा

लगाया कि हिन्दी कहानी प्रेमचन्द से एक हज़ार क़दम आगे है।[1] लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि प्रेमचन्द के देहावसान के कुछ वर्ष पश्चात् ही हिन्दी कहानी की गति कुछ मन्द हो गयी और कुछ अजीब तरह का शून्य कहानी-साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त रहा। प्रायः जब कोई बड़ा साहित्यिक अपने कार्य-क्षेत्र से उठ जाता है और कोई दूसरा तत्काल उसकी जगह नहीं ले पाता तो पाठकों और आलोचकों को वैसे गतिरोध का संशय होने लगता है। साहित्य-क्षेत्र ही की बात नहीं, रण-क्षेत्र हो, अथवा राजनीतिक-क्षेत्र, किसी बड़े नायक अथवा नेता का निधन, ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के राजनीतिक वातावरण को देखने से इस बात का भली-भाँति पता चल जायगा। हिन्दुस्तान में महात्मा गांधी अपने जीवन-काल ही में नेहरू को अपनी जगह सम्हालने के लिए तैयार कर गये थे, पर जिन्ना ऐसा नहीं कर सके और पाकिस्तान में जिन्ना के मरते ही प्रबल गतिरोध उत्पन्न हो गया।

प्रेमचन्द जिन दिनों हिन्दी क्षेत्र में आये, प्रसाद पहले से वहाँ पदार्पण कर चुके थे। प्रसाद मुख्यतः कथा-लेखक नहीं, कवि और नाटककार थे वे कलावादी थे। समाज-हितैषिता उनकी कहानियों का उद्देश्य न था। यह सच है कि उन्होंने हिन्दी कहानी को महज़ मनोरंजन के स्तर से उठाकर साहित्यिक-उत्कर्ष दिया, पर समाज-हितैषिता की भावना के अभाव में वह उत्कर्ष उनकी कहानियों में (अपवाद-स्वरूप कुछ कहानियों को छोड़कर) महज़ कुछ ऊँचे तरह का मनोरंजन होकर ही रह गया। उनकी कहानियों का मूल-द्रव्य प्रेम, (यथार्थ नहीं काल्पनिक) सौन्दर्य, करुणा, कवित्व और नाटकीयतापूर्ण कल्पना रही। इन्हीं के बल पर वे कला की सुन्दर कृतियाँ रचते रहे।

1—मासिक 'हंस' में कांतिचन्द्र सौनरिक्सा का इसी शीर्षक का लेख।

उनकी नाक के नीचे गंदी गलियों, किलबिलाती नालियों, कूड़े-करकट के ढेरों से होकर बहती हुई जीवनधाराएँ किस तरह व्यापक, पाकीज़ा, अकलुष ज़िन्दगी की पतितपावनी की ओर निरन्तर प्रवहमान हैं, उस ओर उन्होंने उतना ध्यान नहीं दिया। अपने अध्ययन-कक्ष में बैठे वे भारत के स्वर्णयुग के पन्ने पलटते रहे, अपनी कल्पनाओं को रोमान-भरे जीवन में उन्मुक्त विचरने के लिए मुक्त छोड़ते रहे। काल्पनिक स्त्री-पुरुष रचते रहे जो उनके इंगित पर पुतलियों की तरह नाचते रहे। इस रोमान और सौन्दर्य के अनुरूप ही काव्य-मयी, लालित्य-भरी, क्लिष्ट और संस्कृतनिष्ठ उनकी भाषा रही। साधारण से साधारण घटनाएँ और भाव भी उनके यहाँ उपमाओं और अलंकारों में व्यक्त हुए। उनकी कहानी 'नूरी' में जब काश्मीरी शहज़ादा अकबर को ढूँढ़ता नूरी के कुंज में आ निकलता है और उसे चुप कराने को कटार खींच लेता है तो नूरी डर गयी, ऐसा न लिखकर प्रसाद लिखते हैं—"भयभीत मृगशावक सी काली आँखें अपनी निरीहता में दया की—प्राणों की भीख माँग रही थीं।"

प्रसाद की कोई कहानी लीजिए 'आकाश दीप', या 'इन्द्रजाल', 'नन्हा जादूगर', या 'परिवर्तन', 'चित्र वाले पत्थर', या 'सलीम'—इस देश के होकर भी उनके पात्र इस देश के नहीं लगते, गँवार हो या संस्कृत, अपढ़ हो या शिक्षित, पहाड़ी हो या शहरी—सब वही लालित्यमयी भाषा बोलते हैं, कुछ वैसा ही अयथार्थ प्रेम करते हैं। समाज से कोई पात्र प्रसाद ने लिया भी (जैसे नन्हा जादूगर में) तो उसे अपनी कल्पना के रंग में रंग कर अयथार्थ बना दिया। और यों उनकी कहानियाँ सुन्दर, मनमोहक, मनोरंजक, काव्यमयी पर अयथार्थ रहीं। अपने उपन्यास 'तितली' और 'कंकाल' में उन्होंने अवश्य यथार्थ को छुआ, पर उधर रुचि न होने से अपनी पूरी सम्वेदना और कला वे उसे नहीं दे पाये और वे कृतियाँ अपेक्षाकृत कम मनोरंजक रहीं।

प्रेमचन्द न कवि थे, न नाटककार, वे अव्वल आखिर कथाकार थे। फिर कल्पना और इतिहास के बदले उनकी कहानियों का द्रव्य था—युग और जीवन। कला की साधना कला-मात्र के लिए करने में उनका विश्वास न था। कला की सामाजिक उपादेयता में उनका विश्वास अडिग था। उनकी कहानियाँ कल्पना के पंखों पर न उड़ती थी, वास्तविकता की नींव पर टिकी थीं, भले ही उनके शिखर आदर्श के आकाश को छूते हों। इतिहास अथवा अनजाने रोमानी प्रदेशों में उन्होंने अपनी कल्पना के अश्व न दौड़ाये हों, सो बात नहीं, लेकिन उनकी रोमानी (जैसे लैला) और ऐतिहासिक (जैसे विक्रमादित्य का तेगा और रानी सारन्धा) कहानियाँ भी कला के अनुपम नमूने प्रस्तुत करने के लिए नहीं, वरन् सामाजिक और नैतिक तत्वों की प्रतिष्ठा के लिए ही लिखी गयीं। अपनी कहानियों और उपन्यासों के पात्र उन्होंने अपने इर्द-गिर्द से उठाये। वहीं की चलती-फिरती भाषा, वहीं के मुहावरे और वहीं की लोकोक्तियाँ! जैसे प्रसाद तत्कालीन समाज से पात्र चुनने के बावजूद इतिहास और रोमान के कथाकार थे, इसी तरह प्रेमचन्द इतिहास और रोमान के अफ़साने लिखने पर भी युग और जीवन के चितेरे थे। जहाँ प्रसाद ने वर्तमान की समस्याओं को लगभग नहीं छुआ, वहाँ प्रेमचन्द ने वर्तमान की समस्याओं ही को लिया। उन्होंने औसत आदमी के लिए औसत आदमी की कहानियाँ लिखीं और देखते-देखते प्रसाद और उनके अनुयाइयों को कहीं पीछे छोड़ गये। उन्होंने इस निष्ठा, साधना, विश्वास और सही-दिमाग़ी से लिखा, इतना लिखा और लगातार लिखा कि जब तक वे जिये, उनके विचारों की प्रगति हिन्दी कथा-क्षेत्र की प्रगति रही।

प्रेमचन्द के कार्यकाल के अन्तिम कुछ वर्षों में एक नयी प्रवृत्ति साहित्य-क्षेत्र में आयी। आयी वह पच्छिम से। उर्दू में इसके

अलमबरदार श्री सज्जाद ज़हीर, अख़तर हुसेन रायपुरी, डा० रशीदा जहां और अहमद अली थे और हिन्दी में जैनेन्द्र।

उर्दू में विलायत से शिक्षा पाकर लौटे कुछ लेखकों ने 'अंगारे' के नाम से कहानियों का एक संग्रह छपवाया। वे कहानियाँ आदर्शवादी न होकर कटु-यथार्थवादी थीं और उनमें उन बर्बर जज़्बों, यौन-सम्बन्धी दमित भावनाओं, चेष्टाओं और इर्द-गिर्द के घिनावनेपन का ज़िक्र वर्जित न समझा जाता था, जिनका उल्लेख करने से प्रेमचन्द घबराते थे। मनोविज्ञान का—विशेषकर सेक्स सम्बन्धी दमित भावनाओं को उद्घाटित करने वाले मनोविज्ञान का—भी समावेश इन कहानियों में प्रचुर था।

उन्हीं दिनों श्री सज्जाद ज़हीर ने अपना एक नाटक 'बीमार' लिखा जिसमें विवाहित नारी की कुण्ठाओं का सुन्दर चित्रण था। वे कुण्ठाएँ उस समय अर्ध-चेतन से उभर कर बाहर आती हैं, जब उसके घर में एक बीमार कवि आ जाता है। उसकी थीम जैनेन्द्र की भाभी सम्बन्धी कहानियों जैसी ही थी।

इन्हीं लोगों ने पहले-पहल प्रगतिशील-लेखक-संघ का सूत्रपात्र किया। प्रेमचन्द तो बराबर उर्दू में लिखते थे। उर्दू साहित्य से परिचित रहते थे और नये विचारों और प्रभावों से घबराते न थे। इस यथार्थवादी धारा का प्रभाव उनकी बाद की कहानियों और उनके उपन्यास 'गोदान' पर स्पष्ट है। जैनेन्द्र भी प्रगतिशील आन्दोलन के साथ थे और उनके द्वारा हिन्दी कहानी को मनोविज्ञान का वैसा ही पुट मिला। लेकिन जहाँ उर्दू लेखक उस चित्रण को प्रकृतवाद की दलदल से निकाल कर आलोचनात्मक और सामाजिक यथार्थवाद की ओर ले गये, जैनेन्द्र अहमद अली की तरह उससे ऐसे चिमटे कि उसका दामन नहीं छोड़ पाये। 'बुद्धि की दुश्मनी'[1] (जो प्रेमचन्द के आदर्शवाद से दुश्मनी थी)

---

[1] एक बार प्रेमचन्द से मैंने (जैनेन्द्र ने) पूछा कि बताइए अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है? उन्होंने बिना देर लगाये उत्तर दिया—धन की

को उन्होंने समाज-हितैषिता से दुश्मनी में बदल दिया। हश्र उनका अहमद अली से भिन्न नहीं हुआ—बावजूद सारे आध्यात्मिक ववचनों और उलझे निबन्धों के।

प्रेमचन्द के अन्तिम कुछ वर्षों में जैनेन्द्र काफ़ी ख्याति पा गये थे। उन्हींके एक लेख से पता चलता है कि प्रेमचन्द ने एक तरह से उन्हें अपना उत्तराधिकारी भी मान लिया था। उनकी कुछ कहानियों, जैसे अपना पराया, पत्नी इत्यादि पर प्रेमचन्द का प्रभाव भी स्पष्ट है, पर उनकी शेष कहानियों में वह प्रभाव दिखायी नहीं देता। अपनी सीमाओं के कारण वे उसे बनाये नहीं रख सके अथवा सचेष्ट प्रयास करके वे उससे मुक्त हो गये।

प्रेमचन्द की निष्ठा, श्रम, दयानतदारी, सही-दिमाग़ी, जन-मन तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व जैनेन्द्र के यहाँ बिल्कुल नहीं था। घोर प्रतिभा, प्रबल-महत्वाकांक्षा और प्रचंड अहम्—इन्हीं तीनों को लेकर जैनेन्द्र साहित्य-क्षेत्र में उतरे। प्रेमचन्द की सीमा को लाँघ जाने की त्वरा में वे उनकी उस शक्ति को, जिससे प्रेमचन्द ने लगातार लिखा और पहले से अच्छा लिखा, खो बैठे और अपनी घोर प्रतिभा और प्रबल महत्वाकांक्षा के बावजूद प्रेमचन्द की तरह हिन्दी साहित्य की प्रगति के प्रतीक न बन पाये। हवाई जैसे जलते बारूद की चमचमाती लकीर सी छोड़ती हुई आसमान की ओर उड़ जाती है, कहीं ऊँचे में पहुँचकर, एक दम फटकर, कुछ बड़े सुन्दर सितारे छोड़ देती है और फिर बुझी हुई सी लौ लिये, मन्थर-गति से नीचे उतरने लगती है और कभी-कभार उसमें से बारूद का कोई-कोई बचा-खुचा कण जलकर गिरता है, पर वे चमकते सितारे फिर दिखायी नहीं देते। वैसे ही जैनेन्द्र चार-छै वर्षों ही में अपनी प्रतिभा के शिखर पर पहुँच,

---

दुश्मनी। मैं अपने से यही पूछूँ तो उत्तर मिले—बुद्धिकी दुश्मनी (साहित्य का श्रेय और प्रेय पृष्ठ ६५)

कुछेक उच्चकोटि की कहानियाँ और दो एक उपन्यास देकर एकदम बुझ से गये और फिर जो उन्होंने दिया वह रहे-सहे बारूद के जलते ज़र्रों-सरीखा ही था।

जैनेन्द्र ने स्वयं प्रेमचन्द्र के बारे में एक जगह लिखा है :

> प्रेमचन्द की कहानियों के चौखटे *इर्द-गिर्द* के *यथार्थ जीवन से उठा लिये गये हैं।* उनकी कहानियों का प्राण व्यवहार-धर्म है। उनके पात्र सामाजिक हैं। उनके चरित्र महान इसलिए नहीं कि प्रेमचन्द जी ने उन्हें महान बनने नहीं देना चाहा है। सबके सब गुण-दोषों के पुंज हैं। किसी का दोष विराट अथवा इतनी सघनता से काला नहीं बन पाता कि *उसमें चमक आ जाय*, न किसी का गुण हिमालय की भाँति शुभ्र और *अलौकिक काँति देने वाला बन पाता है।* औसत आदमी की सम्भावनाओं से परे उनके पात्र नहीं जाते। कल्पना को प्रेमचन्द उठने देते हैं, पर *रोमांस* की हद तक नहीं। जैसे उन्होंने अपने आप को एक कर्त्तव्य में बाँध लिया है और कर्त्तव्य उनका वर्तमान के प्रति है। मोक्ष और भविष्य से उनका इतना सम्बन्ध नहीं जितना मानव-समाज और उसकी आज की समस्याओं से। वे समाज-हितैषिता से छूट नहीं सकते। यही उनकी *शक्ति* और यही उनकी *सीमा* है।

यह उद्धरण प्रेमचन्द को समझने में उतनी सहायता नहीं करता, जितनी जैनेन्द्र को। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियाँ साक्षी हैं कि उनके सृजक ने चाहा कि उनके चौखटे इर्द-गिर्द के यथार्थ जीवन से न उठें, कि उनके पात्रों के दोषों में चमक आये; कि उनके गुण अलौकिक कांति दें, कि उनकी कल्पना उड़े तो रोमांस की हदें छूले और वे प्रेमचन्द की समाज-हितैषिता की सीमाओं को लाँघ जायँ।

जैनेन्द्र, प्रेमचन्द की सीमाओं को लाँघ गये। प्रेमचन्द सरीखी कहानियाँ लिखते-लिखते वे 'रत्न प्रभा', 'उर्वशी', 'एक रात', 'प्रतिभा' जैसी कहानियाँ लिखने लगे। प्रेमचन्द बहिर्निष्ठ थे तो जैनेन्द्र उनकी विपरीत दिशा में बढ़कर आत्म-निष्ठ हुए। प्रेमचन्द की कहानियों का धरातल सामाजिक था तो जैनेन्द्र का वैयक्तिक हुआ। प्रेमचन्द्र लौकिक के कथाकार थे तो जैनेन्द्र धीरे-धीरे अलौकिक के कथाकार हो गये। प्रेमचन्द औसत आदमियों की बातें औसत आदमियों के लिए लिखते थे तो जैनेन्द्र विशिष्ठ जनों की बातें विशिष्ठ जनों के लिए लिखने लगे। फल वही हुआ जो होता। वे धारा से अलग जा पड़े। प्रेमचन्द से कहीं ऊँचा उठने की महत्वाकांक्षा में वे सिर के बल आ पड़े और 'हम तो डूबेंगे सनम तुमको भी ले डूबेंगे' के अनुसार हिन्दी कहानी की प्रगति को कुछ काल के लिए ले बैठे। आपने दिशा-विभ्रम में उन्होंने हिन्दी कहानी को गहन दर्शन और 'मनमाने मनोविज्ञान' के कुहब रास्तों पर डाल दिया।

प्रेमचन्द और प्रसाद जिन दिनों सृजनशील थे, उनका यह सतत प्रयास रहता था कि वे अपनी कला को निरन्तर सुधारें। उनकी नयी कृति प्रायः पहली से सुन्दर होती थी। प्रेमचन्द और प्रसाद की अन्तिम कहानियाँ अधिकांशतः उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' और प्रसाद का महाकाव्य 'कामायनी' तथा उपन्यास 'तितली' इसके प्रमाण हैं। यही कारण है हिन्दी साहित्य की प्रगति का अहसास सदा पाठकों को रहता था। पर जैनेन्द्र की बाद की कृतियाँ उनकी पहली कृतियों की छाया भी न बन पायीं। अपने अपमानित अहम् के कारण (जिसने धर्धा के विचारकों से अवमानना पायी) अथवा अपनी महत्वाकांक्षा के कारण, जो प्रेमचन्द, टैगोर, तालस्ताय और गोर्की के ऊपर उठना चाहती थी, जब अपनी शक्ति (जो सामाजिक जीवन को जीने से आती है।) और बुद्धि (जो

गहरे अध्ययन, चिन्तन और मनन से प्राप्त होती है।) से ऊपर उठ जाने की उन्होंने कोशिश की तो 'कुछ न समझे खुदा करे कोई'—की सी चीज़ों का सृजन करके रह गये।

'एक रात' संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा :

> "एक रात के बारे में लोग पूछते हैं कि यह क्या है? मैं कह देता रहा हूँ कि जो है वही है। मैं उनकी शंका के प्रति अविनयी नहीं बना हूँ। किन्तु जब उन्होंने मुझे सुनाया कि कहानी पढ़ते-पढ़ते उन्हें लगी अवश्य अच्छी है, तभी मैंने भर पाया। इसके आगे बढ़ने पर जब वे उसके अर्थ माँगते देखे गये तो मैंने कहा कि रस लेकर वे मुझ से और अधिक माँगते ही क्यों हैं? समझ लें कि मेरे पास अर्थ बाँटने के लिए है ही नहीं।"

आलोचकों ने समझा जैनेन्द्र उन्हें मूर्ख समझते हैं, उनका मज़ाक उड़ाते हैं, सो उन्होंने उनकी कहानियों में रस लेने के बाद अर्थ ढूँढने की भी कोशिश की और जब बहुत कोशिश के बाद उन्हें लगा कि वे केवल पानी को बिलो रहे हैं तो वे हार कर चुप हो गये। जैनेन्द्र के कथाकार में Quack दार्शनिक के पूरे गुण रहे हैं। ऐसे महात्माओं की कमी इस पुण्यभूमि में नहीं जो निपट निरक्षर हैं, पर कुछ ऐसी उलझी-सुलझी बातें कह देते हैं कि सुनने वाले अपनी अपनी समझ के अनुसार (दार्शनिकता तो भारतवासियों की घुट्टी में पड़ी है,) उनके किसी एक शब्द या वाक्यांश का अर्थ लगाकर संतुष्ट हो जाते हैं। अपनी किसी (तथाकथित) दार्शनिक कहानी की व्याख्या का झमेला जैनेन्द्र ने कभी नहीं पाला। आलोचकों से कह दिया कि मैंने अपनी कह दी, आप अपनी समझिए। उसमें कुछ नहीं तो कुछ नहीं, है तो है। और यों सदा छुट्टी पा गये।

परिणामतः वे कथाकार के बदले विचारक कहाने लगे, कहानियाँ लिखने या लिखाने के बदले प्रवचन देने और प्रश्नों के उत्तर लिखाने लगे।

लेकिन हर समय साहित्यिक क्षेत्र में ऐसे लेखक होते हैं जो बड़ों की ओर देख कर अपना पथ निर्धारित करते हैं। जिस समय प्रेमचन्द और प्रसाद लिखते थे तब उन दोनों के गिर्द कुछ लेखकों का गिरोह था—प्रसाद स्कूल में रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, चंडी प्रसाद हृदयेश और वाचस्पति पाठक थे और प्रेमचन्द स्कूल में कौशिक, सुदर्शन, राजेश्वर प्रसाद सिंह, इत्यादि। प्रेमचन्द के आने के बाद जैसे प्रसाद स्कूल के लेखक मौन हो गये थे, इसी तरह जैनेन्द्र के आते ही प्रेमचन्द स्कूल के लेखक पीछे पड़ गये।

रहे नये लेखक, तो पहले उन्होंने जैनेन्द्र, का अनुकरण करने का प्रयास किया। 'माधुरी' १६३८ के विशेषांक में जैनेन्द्र, पहाड़ी तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानियाँ एक जैसी थीम को लेकर निकलीं। न केवल कथानक, बल्कि भाव और भाषा तक उनमें एक सरीखी थी। निश्चय ही जैनेन्द्र का प्रभाव पड़ रहा था। लेकिन प्रेमचन्द लगातार लिखते थे, इसलिए वे कहानी को प्रसाद से कहीं आगे उठाकर ले गये। जैनेन्द्र में न केवल उस निष्ठा और विश्वास की कमी थी, वरन् उनका द्रव्य मनोविज्ञान के नाम पर यौन-सम्बन्धी दमित इच्छाओं का उद्घाटन और उलझा हुआ दर्शन था। यौन सम्बन्धी दमित इच्छाओं के उद्घाटन से, चाहे वह कितना भी मनमाना क्यों न हो, यदि उन्होंने रस की सृष्टि की तो माँगे के दर्शन से कहानी को अनजाने ऊबड़-खाबड़ मार्गों में उलझाकर ले गये। दो चार कदम हिन्दी कहानी इस मार्ग पर चली फिर थक कर बैठ गयी और गतिरोध का पहला अहसास हिन्दी-कथा साहित्य के पाठकों को हुआ।

इससे पहले कि कहानी-क्षेत्र में जैनेन्द्र के बाद आने वाले लेखकों का उल्लेख करें, प्रसाद, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के कार्य का जायज़ा लेना ज़रूरी है। क्या जैनेन्द्र ने कहानी को किसी दिशा में आगे नहीं बढ़ाया, या वे उसे पीछे ले गये? क्योंकि रस की सृष्टि तो प्रसाद का भी उद्देश्य था और प्रेमचन्द का भी!

जैनेन्द्र की विचार-प्रधान कहानियों को छोड़ दें तो मान लेना होगा कि जहाँ तक मनोविज्ञान का सम्बन्ध है जैनेन्द्र ने निश्चय ही प्रेमचन्द की कहानी में बहुत कुछ अपनी ओर से बढ़ाया, पर जहाँ उन्होंने उपादेयता अथवा उनके अपने शब्दों में समाज-हितैषिता की उपेक्षा की, वहीं वे कहानी को फिर पीछे ले गये।

भाषा के क्षेत्र में भी जैनेन्द्र ने यही किया। भाषा को व्याकरण की कठोर कारा से मुक्त कर उन्होंने उसमें अजीब प्रवहमानता और अभिव्यक्ति की सरलता ला दी। उनके कुछ प्रयोग दूसरों ने अपना लिये, लेकिन स्वयं उन्होंने उस तोड़-मरोड़ को कुछ इतना बढ़ाया कि वह सरलता कृत्रिम और असचेष्टता सचेष्ट होने से दुरूह हो गयी और यह कदम निश्चय ही पीछे की ओर को था।

जहाँ तक मनोविज्ञान का सम्बन्ध है, प्रेमचन्द के यहाँ मनोविज्ञान का सर्वथा अभाव हो, ऐसी बात नहीं। उनकी कहानियाँ 'नशा', 'बड़े भाई साहब', 'मनोवृत्तियाँ' इत्यादि बड़े गहरे मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण करती हैं, लेकिन मानव-मन की यौन सम्बन्धी गुत्थियों को खोल कर स्तर-दर-स्तर दिखाने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। जैनेन्द्र ने उस विशिष्ट ज्ञान से हिन्दी साहित्य को विभूषित किया। देवर-भाभी को लेकर उन्होंने ऐसी कहानियाँ लिखीं, जिनमें पति बहुत अच्छा, बहुत नेक, बहुत अमीर* पर बीवी करने के लिए कुछ न होने के कारण

---

*श्रीकान्त खुले मन, पुष्ट देह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्ति का पुरुष है। यही बात 'विवर्त' की विश्व मोहिनी तथा 'सुखदा' की सुखदा के पति की है।

ऊबी, थकी, उदमाती और आखिर पति के (अथवा अपने) पुराने मित्र के प्रेम में फँसी।

क्या ऐसा करना बुरा था? क्या इन कहानियों से (उस तरह जितनी कहानियाँ भी लिखी गयीं, उनसे) हिन्दी साहित्य का अहित हुआ? उत्तर में सहसा 'हाँ' या 'ना' कहना शायद ग़लत होगा। ऐसा करना बुरा न था, क्योंकि जैनेन्द्र ने पहली बार हमारे अन्तर-मन की दमित इच्छाओं की ऊपरी परत को फोड़ा और हमारी कहानियों को कुछ वैसी गहराई प्रदान की जो प्रसाद छोड़, प्रेमचन्द के यहाँ भी न थी। जिसका होना वाँछनीय था। 'राजीव और उसकी भाभी', 'मास्टरजी', 'बिल्ली बच्चा', इत्यादि कुछ ऐसी कहानियाँ उन्होंने लिखीं, जिनके सत्य से न केवल इनकार करना मुश्किल है, बल्कि जिनका दर्द अनायास हृदय को छू लेता है। लेकिन इन चार-छै कहानियों को छोड़ दें तो मानना होगा कि जैनेन्द्र का उद्देश्य सामाजिक नहीं था। यह उनकी शक्ति नहीं *सीमा* थी।

मनोवैज्ञानिक सत्यों तक जैनेन्द्र की पहुँच अचूक है। यों फ्रायड तथा दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने उस पहुँच को सर्व-साधारण के लिए सुलभ भी कर दिया है। जैनेन्द्र की सीमा यह है कि अपनी अकसर कहानियों में उन्होंने मनोवैज्ञानिक सत्यों को— मानव की उन कुण्ठाओं, बुभुक्षाओं और उनकी पूर्ति को—अपने में साध्य समझा है। उस पूर्ति के लिए किसी पति की पत्नी उसके सारे प्रेम निवेदन को ठुकरा कर (वह पति शराबी ही क्यों न हो) एक लगभग अनजाने, भूतपूर्व मँगेतर के लिए आँधी पानी में चली जाती है और स्टेशन के प्लेटफ़ार्म की बैंच पर निरावरण हो उसे आत्म-समर्पण कर, उसकी और अपनी कुण्ठा का ख़ात्मा करती है।...यहाँ कुण्ठा की सत्यता से इनकार नहीं, पर क्या उतने ही से दोनों की कुण्ठाएँ समाप्त हो गयीं। नियति-शासित-सा, अपने में साध्य-सा वह आत्मसमर्पण ही क्या उन्हें सदा के लिए संतुष्ट

कर गया ? कि नारी माँ बनने की सम्भावना लिए हुए संतुष्ट चली गयी और पुरुष जैसे उस गहरे सत्य का पता पाकर तृप्त हुआ। यदि ज़िन्दगी इतनी आसान होती तो फिर क्या था ? यह जीवन इतना पेचीदा, इतना उलझा क्यों होता ? समाज क्यों होता ? उसके नियम क्यों होते ? (वे नियम होते तो बार-बार क्यों बदलते ?) अपनी आधारभूत इच्छाओं और आकांक्षाओं को मानव खुला छोड़ देता, उन्हें तृप्त कर सुख और स्वर्ग पाता। लेकिन वैसा तो नहीं है। इसलिए मनोवैज्ञानिक सत्य साधन हैं जीवन की गुत्थियों को सुलझाकर उसे बेहतर बनाने के लिए ! समाज के (ज़रूरत खत्म होने के बावजूद) रूढ़िगत हो चले आने वाले, नियमों को बदलने के लिए उसे अपेक्षाकृत स्वस्थ, सुन्दर और समतल बनाने के लिए ! प्रेमचन्द ने अपनी बाद की कहानियों में मनोविज्ञान का प्रयोग इसी ध्येय से किया। रहे प्रसाद तो वे कलावादी होने के नाते समाज-हितैषिता की भावना से उतने प्रेरित न थे। सो जैनेन्द्र ने अपने मनोविज्ञान से प्रेमचन्द की परम्परा को नहीं, प्रसाद की केवल रस-प्रदान करने वाली परम्परा ही को बढ़ाने में योग दिया।

मनोविज्ञान के अतिरिक्त जैनेन्द्र का दूसरा कारनामा अपनी कल्पना को 'रोमांस' की हदों को छूने के लिए स्वतन्त्र कर देना है। यहाँ रोमांस का अर्थ कोशगत नहीं,* क्योंकि उन अर्थों में तो प्रेमचन्द ने भी—यथार्थ की दुनिया से दूर—कोहाट और बन्नू के परे के अनजाने, रोमानी प्रदेशों की सर्वथा कल्पित कहानियाँ लिखी हैं। रोमांस जैनेन्द्र के यहाँ प्रेम—माँसल और शारीरिक—के अर्थों में आता है। जैनेन्द्र को शिकायत है कि प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में अपने ऊपर व्यर्थ का संयम रखा। उनका दावा है कि वे स्वयं इस सिलसिले में आगे बढ़े। उन्होंने सेक्स को लेकर कई कहानियाँ लिखीं—'ग्रामोफ़ोन का रेकार्ड', 'एक

---

*Romance = any fictitions nerrative in prose or verse which passes beyond the limits of real life.

गत', 'रत्न प्रभा', 'प्रतिभा' सेक्स ही की दमित भावनाओं का उद्‌घाटन करती हैं। उनके उपन्यास 'सुनीता', 'विवर्त', 'सुखदा' और 'व्यतीत'—सब में जैनेन्द्र ने इन्हीं का उद्‌घाटन किया है।

"......अरे ओ, लदे ढके मानव, जो दूसरे की आँख से अपने को ढकता है, सूरज की धूप से अपने को ढकता है, हवा के स्पर्श से अपने को ढकता है, सच की जोत से अपने को ढकता है, अरे क्यों, कपड़ों से लदा-लदा ही क्या तू सभ्य है ? कपड़ों को उतारने के साथ-साथ क्या तेरी सभ्यता, तेरी सम्भावना तिरोहित हो जायगी ? क्यों रे लदे-ढके मानव ?......"

जब सुदर्शना जयराज के कहने पर अपनी एक-मात्र धोती तक उतार कर उसे दे देती है और कुनमनाती, कुलबुलाती, बड़े सुख से जयराज की गोद में लेट जाती है— खुले प्लेटफ़ार्म की खुली बेंच पर (भले ही काली अँधेरी रात के सन्नाटे में) तो जैनेन्द्र उपरिलिखित दर्शन के मोती बखेरते हैं और लदा-ढका मानव— याने जयराज—हाथ के स्पर्श से कम्बल के नीचे सिर से कटि तक उसके शरीर को सहलाता हुआ उसे गर्मी पहुँचाता है। सोचता है :

"......चाहे वह पति को छोड़कर आयी है, पर स्नेहमयी के लिए भगवान कहाँ नहीं हैं। और उसके लिए वर्ज्य क्या है ? नियम कहाँ है ?......"

और कि :

" .....स्नेह अंगीकरण के लिए है, अस्वीकरण के लिए नहीं !"

और :

"......स्नेह तो यश है। इसमें तेरा मेरा कहाँ है ? इस सन्देह को लेकर समाज में उलझनें कैसे पैदा हो सकती हैं ?"

और सुदर्शना रात के उस सन्नाटे में जयराज को आत्मसमर्पण कर,

उसकी ओर अपनी कुण्ठा की गाँठ खोल, सुख दे और सुख पा, उसे नितांत बंधन-मुक्त छोड़कर चली जाती है।

आज जैनेन्द्र को 'नदी के द्वीप' में मिथुन* के सिवा कुछ दिखायी नहीं देता। पर यदि वे अपनी इसी कहानी—एक रात—को दोबारा ध्यान से पढ़ें तो उन्हें मालूम होगा कि 'नदी के द्वीप' एक रात ही का परिवर्धित रूप है। बड़े मनमोहक, पाठकों के स्नायुओं को तान देने वाले ढंग से सुदर्शना को निरावरण कर, उसे जयराज के लगभग निरावस्त्र शरीर पर डालकर, जैनेन्द्र ने शेष जो ब्योरे पाठक की कल्पना के लिए छोड़ दिये हैं, उन्हें उतने ही मनमोहक ढंग से, बड़ी प्यारी, काव्यमयी भाषा में अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में दे दिया है और अन्त वही है जो 'एक रात' का। वहाँ सुदर्शना यज्ञ के लिए समर्पित उस जयराज को सुख देकर (और पाकर) उसे उन्मुक्त छोड़ जाती है। 'नदी के द्वीप' में रेखा उस देव-शिशु—भुवन—को सुख देकर और पाकर 'सुख देते-पाते उन्मुक्त घूमो' का आशीर्वाद देकर उसके जीवन से हट जाती है।

कमला चौधरी ने अपनी कहानी 'साधना का उन्माद' में साधना के उन्माद की जहाँ एक झलक दी है, जो यथार्थ भी है और सुन्दर भी और विचारोत्तेजक भी, वहाँ जैनेन्द्र ने 'रत्नप्रभा' में उस उन्माद को पूरी तरह व्यक्त कर दिया है। जैनेन्द्र को इस बात का गर्व है कि दूसरे जो कहने से झिझके, उन्होंने निसंकोच कहा, रवि बाबू के 'घर बाहर' से कथानक और पात्र लेकर जैनेन्द्र ने 'सुनीता' का सृजन किया। यह साहित्यिक चोरी अपने में सख्त बुरी और निन्दनीय है। जब किसी ने पूछा कि आपने 'घर बाहर' की नकल क्यों की? तो जैनेन्द्र ने इस चोरी को स्तुत्य क़रार देते हुए कहा, "टैगोर ने घर

---

* आलोचना (दिल्ली) जनवरी १९५२ में शिवदान सिंह के नाम जैनेन्द्र का पत्र।

बाहर में जो नहीं कहा, वह मैंने 'सुनीता' में कह दिया है।'' याने अन्त में सुनीता साड़ी, ब्लाउज़ उतार, निपट निरावस्त्र होकर हरि-प्रसन्न से कहती है: -

''मुझे ही चाहते हो न...यह मैं हूँ!''

हरिप्रसन्न भाग जाता है कि वह संदीप नहीं। संदीप अव्वल तो मक्खी रानी (विमला) को उलझाकर यों लाता नहीं, वैसी ग़लती करता, मक्खी रानी वैसे साड़ी उतारने लगती तो वह उसे आलिंगन में कस लेता।

रहा साधना और रत्नप्रभा का उन्माद तो जैनेन्द्र कह सकते हैं कि कमला चौधरी ने जो अपनी कहानी में नहीं दिखाया, वह उन्होंने अपने यहाँ दिखा दिया है।

पर मैं समझता हूँ कमला चौधरी ने बहुत कुछ दिखा दिया है और जैनेन्द्र ने रत्नप्रभा के सेक्स-भाव पर कोई पट न छोड़कर पाठकों के रस को चाहे बढ़ाया हो, कहानी को बेहतर नहीं बनाया।

प्रेमचन्द सेक्स को सूई से उपमा देते थे। सुई चुभती है, पर सीती भी है। कोई आदमी सुई से सीने का काम लेता है और दूसरा कोई, जब कहीं वह चुभ जाती है तो, अंगुली का वह नमकीन, स्वादिष्ट लहू चूसता रहता है। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र में यही अन्तर है।

सुख देने और सुख पाते चले जाने को जो दर्शन एक रात के बाद 'नदी के द्वीप' में मिलता है, वह घाव को चूसते रहने का ही दर्शन है। रही उसकी सामाजिकता तो वह सामाजिकता का विरोधी है। उसकी बग़ावत ही में वह उठा है।

लेकिन ध्यान से देखा जाय तो वास्तव में वह पुरुष के लिए सुख पाने और स्त्री को दुख देते चले जाने और यौन-सम्बन्धों को नितान्त बन्धन-मुक्त छोड़ देने का फ़लसफ़ा है। तब प्रश्न उठता है कि यौन सम्बन्धों की बेलगामी (वह कविता की भाषा ही में क्यों न रखी गयी

हो) इंसानों को एकदम कुत्ते-कुतियों के स्तर पर नहीं ला देती क्या ? पुरुष GayDog बना, उत्तरदायित्वहीन घूमता रहे और स्त्री कुतिया बनी झोल उठाती रहे या डाक्टरी सहायता से, जान की बाज़ी लगाकर, अपनी उस अयाचित विपत्ति से नजात पाती रहे; स्वयं दुख सहे, किन्तु पुरुष को सुख पाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दे— यह फ़लसफ़ा कितना भी अच्छा क्यों न लगता हो, कितनी भी सुन्दर भाषा में क्यों न रखा गया हो, सामाजिक नहीं है।

'...अरे ओ लदे ढके मानव...' जैनेन्द्र जैसे मानव के खोल को उतारते हुए लिखते हैं, पर कौन नहीं जानता कि अपने खोल के अन्दर पुरुष-स्त्रियाँ कुत्ते-कुतियों से भिन्न नहीं, लेकिन न जाने कितनी सदियाँ उन्होंने इंसान बनने में गुज़ार दीं और न जाने कितनी सदियाँ वे अपने इस प्रयास में गुज़ार दें।—'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसां होना'— यह ठीक, पर आदमी इंसान बनना चाहता है। सदियों से उसके लिए प्रयत्नशील है—दया, धर्म, वफ़ा, सत्य, शान्ति, श्रद्धा, स्वाभिमान, मानवता, प्रेम—ये सारे अच्छे जज़्बे महज़ शब्द ही रहीं, पर इन्हीं के पीछे इंसान पागल रहा है, नहीं अपने खोल में तो वह सदा का कामी, स्वार्थी, लोलुप, झूठा और फ़रेबी है। संस्कृति इन्हीं बर्बर भावनाओं के परिष्कार का नाम है। इंसान के बुरे जज़्बों को प्रेमचन्द दिखाते थे—प्रेमाश्रम का ज्ञान शंकर इसका प्रमाण है और वासनाओं का ऐसा सुन्दर चित्रण प्रेमचन्द ने किया है कि अनायास दाद देने को जी होता है—पर इंसान के अच्छे जज़्बों में प्रेमचन्द की आस्था अदम्य थी— ईदगाह में हामिद का अपनी बाल-सुलभ इच्छाओं पर संयम रख, अपने साथियों के साथ खिलौने खरीदने या मिठाई खरीदने का मोह छोड़कर तीन पैसे का चिमटा खरीद लेना, क्योंकि उसकी दादी के हाथ जल जाते थे, आँखों में अनायास आँसू ला देता है।

आस्तिकता का शोर अलापने, कभी वर्धा के सन्तों के पीछे भटकने

और कभी जैनी गुरुओं की चौखट पर माथा रगड़ने के बावजूद, जैनेन्द्र के यहाँ आस्था की कमी रही।

इन्सान के जागरूक, चेतन प्रयास (conscious effort) में जैनेन्द्र का ज़रा भी विश्वास नहीं। 'सुखदा' में (जो हिन्दी के अतीव भावुक पाठक—आलोचक मैं इस लिए नहीं कहता कि आलोचक भावना के बदले विवेक और बुद्धि से काम लेता है—श्री शिवदान सिंह चौहान के निकट इस युग का महानतम यथार्थवादी उपन्यास है) पग पग पर इस अनास्था और नियतिवादिता के दर्शन होते हैं। पृष्ठ ७२ पर जैनेन्द्र सुखदा के मुँह से कहलवाते हैं :

> "अब भी मैं क्यों नहीं समझ पाती कि व्यक्ति जो चाहता है, ठीक उसके करने में क्यों नहीं आ पाता ? क्यों उस से दूर हटता है, जिसके पास होना चाहता है ? क्यों उसे पास बुलाता है, जिससे दूर ही रहा भला। आदमी की यह विवशता किस लिए ? किस नियम के वह अधीन है ? क्या उस में भलाई है ? .....अपने को देख कर आज मुझे बिल्कुल समझ में आ गया है कि जो जो है, वह वही नहीं है। पापी पापी नहीं, पुण्यात्मा पुण्यात्मा नहीं है। चोर चोर नहीं है। डाकू डाकू नहीं है तथा वेश्या वेश्या नहीं। सब वह है जो उसे होना बदा है"

परिणामतः इन्सान कुछ नहीं कर सकता। उसे कुछ न करना चाहिए ! इसी अनास्था के कारण घोर यथार्थता से, मानव की पेचीदा ग्रन्थियों से, जब जैनेन्द्र का सामना होता है तो मनुष्य के चेतन प्रयास, उसके कर्मों की सामाजिकता में इसी अनास्था के कारण वे हमेशा कोई अस्पष्ट-सा, रहस्यवादी, नियतिवादी टोटका देकर अपने कृतित्व की इतिश्री समझ लेते हैं।

जहाँ जैनेन्द्र प्रेमचन्द से एकदम आगे जाने के बदले पीछे चले

गये, वह है नारी-चित्रण। जैनेन्द्र ने नारी को पुरुष के मुकाबले में बड़ा हेय दिखाया है। उसका अपना स्वत्व नहीं है। वह पुरुष को सुख देने, उसके रुद्ध-काम की गाँठों को खोलने, उसके व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए आती है। पुरुष से उपेक्षा पाने पर वह पछाड़ें खाती है, उसके पाँव (जूते) चूमती है, उसके घुटनों से लिपटती है और उसकी चरण-रज माथे पर लगाती है। सख़्त अपमानित होने पर भी वह स्नेह देती है। शरत की स्नेहमयी नारी ही का वह विकृत रूप है। शरत ने तो अपने नारी पात्रों से ऊब कर 'शेष प्रश्न' में कमल के रूप में विद्रोह किया भी था, पर जैनेन्द्र 'साधना का उन्माद' से नारी को लेकर उसपर शरत की नारियों का रंग चढ़ाने पर ही सन्तुष्ट हैं। 'त्यागपत्र' की मृणाल में उन्होंने अपनी परम्परागत नारी भावना को छोड़ने की कोशिश की है, परन्तु अपनी सीमाओं के कारण वैसी नारियों का निर्माण वे नहीं कर सके। मृणाल भी इसीलिए कमज़ोर दिखायी पड़ने लगती है कि उसमें स्वत्व-रक्षा की उतनी भावना नहीं है, जितनी अपनी हठ-रक्षा की और वह भी यथार्थ नहीं, काल्पनिक है। प्रेमचन्द से यह कदम इसलिए पीछे है कि प्रेमचन्द ने पुराने संस्कार में पत्नी, पति को परमेश्वर समझने वाली नारी के स्वत्व की भी रक्षा की है और 'प्रेमाश्रम' की 'श्रद्धा' इसका प्रमाण है। होरी की धनिया तो पुरुष के पग से पग मिलाकर ज़िन्दगी का पथ तै करने वाली संगिनी है।

जब तालस्ताय मरणासन्न थे तो चैखव ने कहा था :—

> So long as literature still has Tolstoy, life is good for writers, even if you never do and will never do any thing. It is not bad, for Tolstoy does it all.

प्रेमचन्द के बारे में यदि यही कहा जाय तो ग़लत न होगा। ठीक

है कि प्रेमचन्द के रहते सुदर्शन लिखते थे, कौशिक लिखते थे, लेकिन प्रेमचन्द अकेले जैसे सब के लिए लिखते थे। किसी तरह के गतिरोध का अहसास फिर कैसे होता ? यही बात नाटक अथवा काव्य की दुनिया में प्रसाद के बारे में कही जा सकती है।

प्रसाद ने कथा को मनोरंजन के स्तर से उठाकर साहित्य की ऊँचाई पर बैठाया, पर प्रेमचन्द ने उसे समाज-हितैषिता का साधन बनाया। प्रसाद ही की तरह इतिहास के जंगल में घुसकर मनमाने रास्ते बनाने वाले और वर्तमान को भी कल्पना के रंग में रंग कर मनमोहक पर अयथार्थ और अनुपादेय चित्र प्रस्तुत करने वाले प्रसाद के अनुयायी कथा को बहुत आगे नहीं बढ़ा सके, क्योंकि प्रेमचन्द के रहते महज़ कलावादियों के लिए कोई स्थान न रह गया था। साधारण पाठकों को क्लिष्ट रोमानी शैली में लिखी उनकी कहानियाँ इन्द्रजाल सी लगती थीं। मन को भरमातीं, पर मन पर कोई नक्श न छोड़तीं। और प्रसाद के देहावसान के बाद राय कृष्णदास, वाचस्पति पाठक, विनोद शंकर व्यास इत्यादि बहुत दूर तक न चल सके।

इस बीच में, जब हिन्दी कथा-साहित्य में अपेक्षाकृत शिथिलता आ गयी, उर्दू कहानी ने बड़ी प्रगति की। उन वर्षों की उर्दू कहानी का जायज़ा लें तो मानना होगा कि उर्दू कहानी लेखकों ने उस दौर में निश्चय ही प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया। 'अंगारे' ग्रुप ने प्रेमचन्द की आदर्शवादी कहानियों में मनोवैज्ञाननिकता और यथार्थता का जो पुट दिया, उसे बाद के लेखकों ने असामाजिक नहीं होने दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में 'मीरा जी' तथा उनके साथियों ने और कहानी-क्षेत्र में मुमताज़-मुफ़्ती आदि ने इस मनोवैज्ञानिकता को केवल दमित वांच्छाओं के उद्‌घाटन तक ही सीमित रखा। मुमताज़ मुफ़्ती ने तो फ्रायड के सिद्धान्तों को

लेकर श्री इलाचन्द्र जोशी की तरह उनपर केस-हिस्ट्रियाँ (Case Histories) ही लिखीं, पर उर्दू में यह अस्वस्थ प्रवृत्ति जनवादी प्रवृत्ति के ज़ोर में दब गयी। मण्टो ने केवल सेक्स ही को अपना विषय बनाया, लेकिन उसकी श्रेष्ठ कृतियों में उसकी व्यापक मानववादिता ही प्रकट होती है। समाज-हितैषिता की भावना उसकी श्रेष्ठ रचनाओं की प्राण है। उर्दू कहानी ने इस दौर में इतना विस्तार ग्रहण किया कि उतने कम अरसे में देश के किसी प्रान्त में कहानी ने वैसी प्रगति नहीं की और उर्दू कहानी के उस सरमाये को देखकर यह कहना पड़ता है कि चाहे उर्दू कहानी ने प्रेमचन्द ऐसा कोई अकेला साहित्यिक पैदा नहीं किया, पर सामूहिक रूप से सब कहानीकारों ने मिलकर उस परम्परा को आगे बढ़ाया।

मौन जब टूटा तो एक ओर यशपाल 'दादा कामरेड' 'देशद्रोही' और दूसरी ओर अज्ञेय 'शेखर' को लेकर मैदान में आये और कथा की धारा दो भागों में बँट गयी। तभी बँटी यह कहना शायद ग़लत होगा। दो रास्ते पहले भी थे। एक पर प्रसाद और उनके अनुयायी चल रहे थे, दूसरे पर प्रेमचन्द।

यशपाल प्रेमचन्द ही की हर चीज़ लेकर आये, यह कहना कठिन है। प्रेमचन्द सुधारवादी थे। उनके उपन्यासों का तार ('गोदान' और 'निर्मला' को छोड़कर) सदा किसी आश्रम पर जाकर टूटता। 'निर्मला' और 'गोदान' प्रेमचन्द के श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास हैं और हिन्दी के लघु-उपन्यासों के इतिहास में तो 'निर्मला' युद्ध-पूर्व के उपन्यासों में सर्व-श्रेष्ठ है। प्रेमचन्द अपने वक्त की प्रगतिशील शक्ति कांग्रेस के साथ थे और उनके उपन्यास वास्तव में कांग्रेस आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण करते हैं। यशपाल मार्क्स से प्रभावित हैं। वे सुधार में विश्वास नहीं रखते। जब तक देश की आर्थिक व्यवस्था में समूल

परिवर्तन नहीं होता, तब तक देश की अधिकांश जनता आज़ाद होकर भी ग़ुलामों से बदतर ज़िन्दगी बसर करेगी, यह बात वे भली-भांति जानते हैं, इसीलिए बुर्जुआ संस्कृति के खोखलेपन का भण्डा फोड़ और आने वाले समाज की झांकी यशपाल अपने कथा-साहित्य में दिखाते रहे हैं। उनके उपन्यास भी देश के प्रगतिशील आन्दोलनों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसीलिए उनकी परम्परा वही है। आदर्श भी वही है—जन-रंजन और देश के करोड़ों भूखे-नंगों के लिए स्वस्थ और सुखद जीवन का स्वप्न—जिसे उन्होंने 'देशद्रोही' की भूमिका में कल्पना के चांद से उपमा दी है। इसी परम्परा में 'पार्टी कामरेड' उनका लघु उपन्यास हिन्दी के कथा-साहित्य की स्वस्थ परम्परा में बड़ी ही सुन्दर, प्रेरक, मनोरंजक, संवेदनशील और उपादेय कृति है। शरत के लघु उपन्यासों की सी मनोरंजकता उसमें है, पर अस्वस्थता नहीं। अन्त पर पहुँचते पहुँचते उपन्यास एकदम झकझोर कर रख देता है।

इसी धारा को रांगेय राघव और नागार्जुन ने आगे बढ़ाया है। रांगेय राघव के उपन्यास 'विषाद मठ' और 'हुज़ूर' आज के समाज के नंगेपन, ग़रीबी, शोषण, विलासिता और परवशता का अपूर्व चित्रण करते हैं। 'विषाद मठ' में उन्होंने बंगाल की अकाल-पीड़ित मानवता की बड़ी ही करुण और हृदयद्रावक झांकी उपस्थित की है। 'हुज़ूर' में बीस वर्ष से अब तक हमारे समाज के विभिन्न वर्गों और स्तरों का सैरबीनी चित्र है। शासक, शोषक, पूंजीपति और पेशेवर नेताओं का यथार्थ, व्यंग्यात्मक (इसीलिए कहीं-कहीं अतिरंजित) चित्रण वहाँ प्रस्तुत है। रांगेय राघव ने अपनी ओर से कोई उपदेश न देकर संकेत रूप में विभिन्न वर्गों की स्थिति और उनके आपसी सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। उपन्यासकार ने न केवल शोषक समाज पर कड़ी चोट की है और समाज के गलित-घृणित शोषक वर्ग की तस्वीर खींची है, बल्कि बड़ी खूबी से दिखा दिया है कि इस बीस वर्ष के अरसे में स्थिति

में कोई अन्तर नहीं आया। शाशक-शाशक है और शोषित-शोषित—ऊपरी परिवर्तन चाहे उस बीच में हुए हों, पर शोषित मानव और प्रपीड़ित नारी पहले से भी हीनतर जीवन बिता रहे हैं।

इस परम्परा में नागार्जुन का आगमन बड़ा ही आशाप्रद है। यशपाल और रांगेय राघव की सीमाएँ ये हैं कि मज़दूर या किसान तबक़े से उनका सीधा सम्पर्क नहीं और इसीलिए जिस तबक़े की भलाई वे चाहते हैं, उसमें बौद्धिक सहानुभूति तो वे रखते हैं, पर उसके मनोविज्ञान, उसकी छोटी-छोटी समस्याओं और दैनिक जीवन से उनका सीधा सम्पर्क नहीं। इसके विपरीत नागार्जुन प्रेमचन्द ही की तरह किसानों के जीवन का चित्रण उपस्थित करते हैं। प्रेमचन्द ने यदि उत्तर प्रदेश के किसानों को अपने उपन्यासों में उतारा तो नागार्जुन मैथिल प्रान्त के किसानों, उनकी विवशता, उनकी साधों और समस्याओं को अपने उपन्यासों में उतार रहे हैं। मैथिल प्रान्त की शस्यश्यामला भूमि सघन आम की अमराइयाँ, तालाब, पोखर और खेत-खलिहान नागार्जुन के उपन्यासों में साकार हो उठे हैं। अपने पहले उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' ही से नागार्जुन ने अपनी प्रतिभा का सिक्का कथा-साहित्य के क्षेत्र में जमा दिया और पाठकों और आलोचकों को जना दिया कि उनके गद्य लेखक की शक्ति ऐसी नहीं कि उसे अनायास अनदेखा कर दिया जाय। शुम्भकपुर गाँव के एक कुलीन ब्राह्मण घराने की विधवा ब्राह्मणी की दुख गाथा सुनाने के बहाने नागार्जुन ने मैथिल-गाँवों के जीवन का बड़ा ही यथार्थ और करुण चित्रण 'रति नाथ की चाची' में उपस्थित किया है।

नागार्जुन के दूसरे उपन्यास 'बलचनमा' का विस्तार और भी बड़ा है। इसमें नागार्जुन ने एक ग़रीब किसान और खेत मज़दूर को अपने उपन्यास का नायक बनाकर एक ओर ज़मींदारों और गाँव

के धनी लोगों के शोषण का चित्रण किया है दूसरी ओर निम्न वर्ग के संघर्ष को मूर्तरूप दिया है।

'नयी पौध'—अपने तीसरे उपन्यास में नागार्जुन ने फिर ब्राह्मण लड़कियों के विवाह की समस्या को लिया है। यही समस्या वास्तव में परोक्ष रूप से 'रतिनाथ की चाची' की है। लेकिन यदि 'रतिनाथ की चाची' के अन्त में निराशा का अँधेरा है तो 'नयी पौध' के अन्त में नयी आशा का उजेला। गाँव की 'नयी पौध' गाँवों की युवतियों को रतिनाथ की चाची-के-से दुख न सहने देगी, इस बात का विश्वास इस उपन्यास का अन्तर्गूत विश्वास है। और यों 'रतिनाथ की चाची' 'बलचनमा' और 'नयी पौध'—नागार्जुन का हर उपन्यास पहले से एक क़दम आगे हैं।

उधर अज्ञेय ने 'शेखर' में जैनेन्द्र के व्यक्तिवादी दर्शन को और आगे बढ़ाया अथवा यों कहें कि सीमित किया। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि वह सब अज्ञेय ने बुद्धि से दुश्मनी करके नहीं, बुद्धि से दोस्ती करके किया है। यह अलग बात है कि जैनेन्द्र बुद्धि से शत्रुता करके जिन परिणामों पर पहुँचे, अज्ञेय बुद्धि से मैत्री करके भी उन्हीं परिणामों पर पहुँचे हैं। यद्यपि भाषा का निखार और कला की परिपक्वता 'नदी के द्वीप' में 'शेखर' से अधिक है, पर 'शेखर' से 'नदी के द्वीप' तक अज्ञेय के कलाकार की प्रगति प्रशस्त से संकीर्ण-पथ की ओर ही है। 'शेखर' एक व्यक्ति के मनोविज्ञान और उसकी व्यक्तिगत उलझनों, कुण्ठाओं और विकृतियों का चित्रण तो करता है, पर उस चित्रण के माध्यम से हमें समाज और उसकी समस्याओं की झलक अवश्य मिलती है। 'नदी के द्वीप' में समाज को अज्ञेय ने एकदम काट दिया है। भुवन का अपना ड्राइंग रूम ही जैसे लखनऊ और दिल्ली से उठकर नकुचिया और तुलियन तक चला गया है। भीम ताल से नकुचिया ताल तक मार्ग में प्रकृति की सुरम्यता संगी का सौन्दर्य

तक भुला देने की क्षमता रखती है, पर 'नदी के द्वीप' में समाज तो दूर प्रकृति तक को अज्ञेय ने भुवन और उसकी प्रेयसी के मध्य नहीं आने दिया। भुवन विज्ञान का क्या आविष्कार करता है, हम नहीं जानते, रेखा और गौरा क्या करती हैं, उसका उल्लेख है, पर निकट से उसका कोई वर्णन नहीं—समाज से दूर प्रकृति से दूर—पुरुष और स्त्री का यौन-सम्बन्ध और बस—उसी में अज्ञेय ने सारे काव्य, दर्शन और कला-कौशल को समो दिया है। नदी के द्वीप—सड़क के द्वीप जो बहती धारा और बहती दुनिया से अलग हटकर अपने हाल में मस्त खड़े हैं—अज्ञेय के कलाकार का चरम-लक्ष्य हैं। जन (सामूहिक) के प्रति, उसके सामूहिक दुख-सुख, उसकी हलचलों और आन्दोलनों के प्रति तीव्र घृणा का भाव अज्ञेय के इन उपन्यासों में मिलता है। और यों प्रसाद से अज्ञेय तक उसी व्यक्तिवादी, कलावादी, शाश्वतवादी अयथार्थ, रोमानी दृष्टिकोण का प्रसार है। शरत की सामाजिकता को छोड़कर, उसकी पीड़ा को यहाँ और मिला लिया गया है।

'नदी के द्वीप' में कण्टेण्ट (वस्तु) की दुर्बलता से बहुत कम लोगों को इनकार है, पर उसकी मनमोहक भाषा, उसकी कला के सौष्ठव और उसकी मनोरंजकता के सभी क़ायल हैं। यहाँ फिर वही सवाल पैदा होता है जो जैनेन्द्र की कहानी 'एक रात' के सम्बन्ध में पैदा हुआ था— यदि आपको इसमें रस मिलता है तो आप और क्या चाहते हैं? पर यह तय है कि प्रबुद्ध पाठक सिर्फ़ रस नहीं चाहता, प्रेम ही नहीं चाहता और भी बहुत कुछ चाहता है।

कहा जा सकता है कि जो चीज़ अच्छी लगती है वह केवल कला के बल पर अच्छी नहीं लगती, इसमें कण्टेण्ट भी कुछ न कुछ अच्छा रहता है। 'कुछ ही अच्छे' और 'बहुत ही अच्छे' कण्टेण्ट में अन्तर है। 'नदी के द्वीप' में लेखक ने व्यक्ति के प्रेम और यौन सम्बन्ध को परखा

है। प्रेम जीवन की धुरियों में से है, पर यह जीवन इसी एक धुरी पर नहीं चलता। फ़ैज़ के शब्दों में :

> और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
> राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।

इसलिए केवल इस एक जज़्बे को लेकर सुन्दर कलापूर्ण ढंग से लिखा गया उपन्यास अच्छा तो लगेगा, यह और बात है कि अच्छा लगने के बाद भी आप उस मनोरंजकता के अतिरिक्त उससे कुछ और चाहें और न पायें! यह 'कुछ और' कण्टेण्ट का गुण है। जिस उपन्यास में कला भी अच्छी है और कण्टेण्ट भी, वही श्रेष्ठ है, शेष सब निम्न!

कण्टेण्ट की स्थिति कपड़े की-सी है और कला की उसकी काट-तराश की-सी। यह हो सकता है कि हलके कपड़े को बड़ी सुन्दर काट-तराश से मनमोहक बना दिया जाय। प्रकट है कि न वह सर्दी ढकेगा, न देर तक चलेगा। इसके विपरीत बहुत अच्छा मोटा कपड़ा यदि बुरी तरह काटकर कोई पहन ले तो न वह अच्छा लगेगा, न उसे सदा पहनना सहल होगा। अच्छी, देर-पा, उपादेय, सुन्दर और आकर्षक पोशाक के लिए कपड़े और काट-तराश दोनों का अच्छा होना ज़रूरी है।

प्रसाद से अज्ञेय तक कथा साहित्य में काट-तराश बहुत सुन्दर है, मनोहक है, पर कपड़ा उपादेय नहीं। प्रसाद ने जनरंजनता का दामन एकदम नहीं छोड़ा, बल्कि यदि ध्यान से देखें तो वे धीरे धीरे उसे और भी पकड़ते गये। लेकिन जैनेन्द्र से अज्ञेय तक, यह बात उलटी है। वे उसे उत्तरोत्तर छोड़ते गये।

जो लोग उपादेय के मुकाबले में केवल सुन्दर, आकर्षक और मनमोहक के शैदाई हैं, आँखों को चुँधियाने और दिल को बरमाने ही में जो कला की इतिश्री समझते हैं, उन्हें 'सुनीता' और 'नदी के द्वीप'

अच्छे लगेंगे, लेकिन जो कला की उपादेयता और समाज-हितैषिता में विश्वास रखते हैं, उन्हें इन उपन्यासों में चकाचौंध अधिक और उपलब्धि कम मिलेगी।

द्वितीय महायुद्ध तक लेखक प्रायः युद्ध से अछूते रहकर अपने कल्पना-संसार में विचरण करते या अपनी अनुभूतियों के अनुसार लिखते थे, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के समय लड़ाई में भाग लेने वाले राष्ट्रों के लेखक अछूते नहीं रहे। रूस के लेखक अपवाद हैं, क्योंकि वहाँ पहले महायुद्ध के बाद ही लेखक समाज और सरकार से अलग न रहकर, उसके अंग बन गये थे और उसकी व्यवस्था में उनका सक्रिय योग होने लगा था। लेकिन इस युद्ध में रूस ही की तरह दूसरे राष्ट्रों के लेखकों की स्थिति हो गयी। अँग्रेज़ी, अमरीकी, स्पेनी, इतालवी, जर्मन, जापानी—सभी लेखक फ़ासिज़्म के समर्थक हो गये या उसके विरोधी। रूसी लेखक तो खैर युद्ध में भाग लेने को विवश कहे जा सकते हैं, पर अँग्रेज़ी उपन्यासकार मॉम तथा अमरीकी उपन्यासकार हैमिंगवे और स्टीनबैक ने इस या उस स्थिति में युद्ध में योग दिया। जापान के कवि नागूची और रवि ठाकुर का पत्र-व्यवहार पुरानी बात नहीं।

अंग्रेज और अमरीकी चाहते थे कि जर्मन और रूस में जंग छिड़े और दोनों शक्तियाँ तबाह हो जायँ और संसार पर उनका आधिपत्य बना रहे, पर जर्मनी पहले रूस से नहीं लड़ा और जब लड़ा तो दोनों राष्ट्र जर्मन विजय से इतने आतंकित हो चुके थे कि रूस को अपना मित्र मानने को बाधित हुए और संसार दो कैम्पों में बँट गया। प्रायः सभी बड़े देश या फ़ासिस्टों के पक्ष में हो गये या विपक्ष में। राष्ट्रों के साथ ही उनके लेखकों की सहानुभूतियाँ भी बँट गयीं।

अंग्रेज़ और अमरीकी चूँकि सदा रूस के विरोधी रहे थे और संकट-काल की विवशता के कारण ही युद्ध में शामिल हुए थे, इसलिए जर्मन भूत के भागते ही, वही पुराना रूसी-विरोध शुरू हो गया। चर्चिल ने तो मण्टगुमरी को आदेश भी दिया कि जर्मनों से जीते हुए हथियार नष्ट न किये जायँ, बल्कि उन्हें रूस के विरुद्ध भावी जंग के लिए इकट्ठा कर लिया जाय।

इस स्थिति में वे लेखक जो प्रतिगामी थे, फ़ासिस्ट विरोध का खोल उतार कर बाहर आ गये और साम्यवाद का विरोध उन्होंने अपने जीवन का चरम-ध्येय बना लिया। संस्कृति, स्वतंत्रता मानववाद और ऐसे ही बड़े बड़े शब्दों की आड़ लेकर वे पुरानी व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने अथवा कुछ आकाशी बातें करके नये युग के मार्ग को अवरुद्ध करने लगे। दूसरे जो पार्टिज़नों के साथ रहे थे, साहित्य और तलवार में कोई भेद न मानने लगे। उनके लिए कला का चमत्कार निरर्थक था, यदि वह प्रतिदिन की समस्याओं का हल नहीं ढूँढ़ता। वे तत्कालीन समस्याओं का समाधान इस साहित्य में चाहते थे। चूँकि उनके सामने शत्रु को पराजित करने की समस्या ही प्रमुख थी, इसलिए दूसरे सभी मूल्य जो बड़े अहम हैं, उस समय एक बड़ी ज़रूरत के आगे उन्हें एकदम ग़ैर-अहम लगे और पार्टिज़न साहित्यिकों से यह माँग हुई कि वे साहित्य को तलवार बनायें। रूस, चीन, पूर्वी प्रजातंत्र राज्यों में ऐसा बहुत सा साहित्य लिखा गया। उन्हीं ने यह नारा दिया कि जो हमारे साथ नहीं वे हमारे शत्रु हैं।

यह विभेद युद्धोत्तर काल के साहित्य की देन है। इसका असर भारत के साहित्यिकों पर भी हुआ। १९४७ में इलाहाबाद प्रगतिशील लेखक संघ की जो कान्फ्रेन्स हुई, उसमें बहुत से वे लेखक भी शामिल थे जो आज उससे बाहर हैं। युद्ध के बाद हिन्दुस्तान आज़ाद हुआ तो जहाँ प्रगतिशील लेखक संघ के कुछ जोशीले लेखकों ने यह समझा कि

क्रान्ति आरम्भ हो गयी है, वहाँ कुछ दूसरों ने समझा कि देश आज़ाद हो गया है। यदि प्रगतिशील लेखक संघ के नेता दूसरों के मनोविज्ञान को समझकर हमदर्दी से काम लेते तो हिन्दी साहित्य में विभिन्न कैम्पों में वैसा विरोध उपस्थित न होता, जैसा कि आज है। पर डाक्टर रामविलास शर्मा और उनके कुछ साथियों ने हर उस लेखक को लताड़ना शुरू किया जो उनकी संकुचित नीति का समर्थन न करता था। जहाज़ियों की लड़ाई, वरली के आन्दोलन, तैलंगाना का युद्ध—इनमें से वे स्वयं किस मोर्चे पर जाकर लड़े, इसे तो वे ही जानें, लेकिन उन्होंने माँग की, कि जो उनका समर्थन नहीं करता वह उनका विरोधी है—और क्योंकि हिन्दुस्तान में शत्रु से तो लड़ाई थी नहीं और आज़ादी अभी-अभी मिली थी, इसलिए यहाँ दो नहीं चार कैम्प बन गये।

● वे लेखक जो प्रगतिशील लेखक संघ में रहे, लेकिन जिन्होंने अपनी लेखनी का दायरा संकुचित कर लिया।

● वे लेखक जो प्रगतिशील ही रहे, लेकिन जिन्हें प्रगतिशीलों ने अप्रगतिशील घोषित कर दिया।

● वे जो प्रगतिशील लेखक संघ की उस नीति के विरोध में संघ से अलग हट गये और प्रतिक्रिया स्वरूप या तो पुराने पथ पर चलने लगे अथवा पूरी प्रतिक्रिया के साथ साम्यवाद का विरोध करने लगे। देश की तमाम समस्याएँ उनके लिए गौण हो गयीं। इनमें से कुछ और भी अन्तर्मुखी हो गये। जो थोड़ी बहुत सामाजिकता उनकी कृतियों में झलकी थी, वह खत्म हो गयी।

● जो इस या उस खेमे में नहीं गये। जैसी-जैसी अनुभूति उन्हें हुई लिखते गये। कभी बहिर्मुखी, कभी अन्तर्मुखी।

'शेखर' से 'नदी के द्वीप' तक अज्ञेय के अन्तर्मुखी होने का यही बड़ा कारण है। अज्ञेय का 'शेखर' यद्यपि व्यक्तिवादी है, पर उसकी

सामाजिकता विवाद से परे हैं। उनकी कहानी 'जीवनी शक्ति' संसार की नहीं तो भारत की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में रखी जा सकती है। और 'शरणार्थी' की कहानियाँ तो किसी भी प्रगतिशील लेखक के लिए गर्व का विषय हो सकती हैं। पर कुछ तो प्रगतिशील आलोचकों की असहानुभूति और कुछ अपनी सीमाओं के कारण न केवल वे और भी व्यक्तिवादी हो गये, बल्कि साम्यवाद का विरोध उन्होंने अपना ध्येय बना लिया। अज्ञेय की कविताओं पर इसका अधिक प्रभाव पड़ा। उन्होंने 'नदी के द्वीप' कविता भी लिखी और 'नदी के द्वीप' उपन्यास भी और अपने व्यक्ति के अन्दर अधिकाधिक सिमटते गये। इन्हीं कुछ वर्षों में हिन्दी साहित्य में फिर गतिरोध की आवाज़ बुलन्द हुई।

लेकिन यह गतिरोध न वैसा था जैसा प्रेमचन्द के निधन के बाद महसूस हुआ, न वैसा, जैसा जैनेन्द्र के अपेक्षाकृत चुप होने पर! हुआ यह कि लेखक तो गतिशील रहे, पर आलोचकों में शोर उठा कि साहित्य की गति अवरुद्ध हो गयी है। पहला अहसास लेखकों का अपना अहसास था—अचानक चलते चलते आगे मार्ग रुका पाने-का-सा, या एक मार्ग पर चलते-चलते आगे दोराहा पाने पर दुविधा में रुक जाने-का-सा। लेकिन यहाँ तो स्थिति यह थी कि चलने वाले निरन्तर चले जा रहे थे, लेकिन किनारे पर खड़े दर्शक-आलोचक शोर मचा रहे थे कि चलने वालों की गति मन्द हो गयी है, वे रुक गये हैं, पीछे को जा रहे हैं। इन आलोचकों के साथ चार तरह के दूसरे लोग भी थे जो भिन्न कारणों से इस चिल्लाहट में शामिल हो गये थे।

● पहले तो उग्र प्रगतिशील थे जो अपने ही लेखकों की चीज़ों को निकृष्ट घोषित कर रहे थे और जिन कृतियों की प्रशंसा वे कर रहे थे वे कण्टेण्ट (वस्तु) की अच्छाई के बावजूद कोई असर न पैदा कर रही थीं। उनकी गति कुछ उस व्यक्ति-की-सी थी जो एक ही जगह खड़ा

उछल-कूद कर रहा हो और समझता हो कि वे जो चले जा रहे हैं गतिशील नहीं, बल्कि वही गतिशील है।

● दूसरे वे थे जो बढ़ती हुई प्रगतिशील शक्तियों के साथ कदम न मिला पा रहे थे और आगे बढ़ने वालों को यह कह कर कोस रहे थे कि वे प्रगति के पथ पर नहीं, अगति के पथ पर अग्रसर हैं।

● तीसरे वे थे जो अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं और अस्वस्थ मान्यताओं के कारण विकृतियों के दायरे में चक्कर लगाने को गति माने बैठे थे और जब देखते थे कि दूसरे उस दायरे के बाहर निकल रहे हैं तो चिल्लाते थे कि उनकी गति रुक गयी है।

● चौथे वे थे जो केवल अपने पक्ष वालों को गतिशील देख रहे थे, दूसरे उन्हें रुके दिखायी देते थे।

और इस तरह इस बात के बावजूद कि लेखक लगातार लिखते रहे हैं, गतिरोध का शोर उठता रहा। यशपाल ने इधर चार-पाँच वर्षों से नया उपन्यास चाहे कोई न लिखा हो, पर उनके कहानीकार की कलम एक वर्ष तो दूर रहा, महीने भर को भी नहीं रुकी। इस बीच में उन्होंने 'फूलो का कुर्ता', 'धर्म युद्ध', 'चित्र का शीर्षक' और 'तुमने क्यों कहा मैं सुन्दर हूँ,' नाम से चार कहानी संग्रह प्रकाशित किये, जिनमें 'धर्म युद्ध' 'ज़िम्मेदारी', 'फूलो का कुर्ता' और 'मंगला' जैसी उच्चकोटि की कहानियाँ भी हैं। यशपाल इस महाजनी दौर के खोखलेपन, इसकी झूठी मान्यताओं और घिसी-पिटी रीतियों का भंडाफोड़ करने में सिद्धहस्त हैं और तथाकथित गतिरोध के इस दौर में भी उन्होंने हिन्दी को उच्चकोटि की कहानियाँ दी हैं और उनके कलम की धार ज़रा भी कुण्ठित नहीं हुई।

नागार्जुन निरन्तर लिखते रहे। उनका नया उपन्यास 'बाबा बटेसर नाथ' कला की दृष्टि से पहले उपन्यासों के मुकाबले में ज़रा हटकर है। इसमें उन्होंने गाँव के बरगद को मूर्तरूप देकर उसके मुख में गाँव के

सुख-दुख की कहानी रखी है। परिचित लीक से अलग होकर नागार्जुन ने इस उपन्यास में अपनी बात कही है और बड़े मनोरंजक ढंग से कही है। व्यक्ति में व्यक्तिवादी लेखक की आस्था के विपरीत सामूहिक चेतना और सामूहिक स्वर में नागार्जुन की अदम्य आस्था है। कोयल के एकाकी स्वर की वे क़दर करते हैं, पर झींगुरों का सम्मिलित स्वर उन्हें लुभाता है। इसी भाव को उन्होंने उपन्यास में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट किया है......

"झींगुर छोटा सा कीड़ा होता है।" वे एक जगह लिखते हैं, "सैकड़ों हज़ारों की तादाद में जब ये एक-स्वर होकर आवाज़ लगाते हैं, तो एक अजीब समाँ बँध जाता है। शहनाई बजाने वालों में दो ऐसे लोग हुआ करते हैं जो केवल स्वर भरे जाते हैं। तीसरा उस्ताद होता है। उसकी फूँक और पपही के छिद्रों पर नाचती अँगुलियाँ शहनाई के सारे चमत्कार की जान हैं, लेकिन स्वर भरने वाले पहले दो जने न हों तो शहनाई का सारा मज़ा किरकिरा हो जाय। प्रकृति के मनोरम संगीत की जान है कोयल की कूक और पपीहे की 'पिउ' 'पिउ' मगर झींगुरों का लगातार स्वर संगीत की उस धारा के लिए सपाट मैदान का काम करता है। सामूहिक स्वर की इस एकाग्र महिमा के आगे मेरा मस्तक सदैव नत है।"

भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'शोले' और 'मशाल' बड़े लोकप्रिय हुए हैं—कला की कतिपय त्रुटियों के बावजूद। लेकिन उनका नया उपन्यास 'गंगा मैया' कला और कण्टेण्ट दोनों की दृष्टि से उनके पहले उपन्यासों से कई कदम आगे है और इस बात की सूचना देता है कि हिन्दी पाठकों को उनसे बड़ी आशाएँ लगाने में शंका न होनी चाहिए। भैरव निश्चय ही उनकी आशाएँ पूरी करेंगे।

अमृतराय ने इस बीच बृहद् उपन्यास 'बीज' लिखा है। बीज की ज़बान ऐसी निखरी-घुली मुहावरेदार है कि पढ़ते चले जाने में ज़रा भी श्रम नहीं पड़ता। यह उनका पहला उपन्यास है, लेकिन उनके इस पहले उपन्यास के पक्ष और विपक्ष में जितना शोर मचा है, वह उसकी शक्तिमत्ता का परिचय देता है।

रुद्र का 'बहती गंगा' उपन्यास कला में नया प्रयोग है। काशी के दो सौ वर्ष के जीवन की कुछ मनोरंजक सरस मस्ती भरी कहानियों को रुद्र ने बड़ी सफ़ाई से इस उपन्यास में पिरो दिया है।

डाक्टर देवराज ने अपने बड़े उपन्यास 'पथ की खोज' के बाद छोटा सा उपन्यास 'बाहर भीतर' दिया है। कहानी सरल, सीधी और मनोरंजक है। न घुमाव न फिराव। यद्यपि 'पथ की खोज' के लेखक से बड़ी कृति की अपेक्षा है, पर 'बाहर भीतर' निराश नहीं करता।

लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' भी प्रेमचन्द की परम्परा में लिखा गया उपन्यास है। लेखक ने देहात की यथार्थता का चित्र देते हुए आदर्श को हाथ से नहीं छोड़ा।

धर्मवीर भारती ने अपने रोमानी उपन्यास 'गुनाहों का देवता' के बाद 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' लिखा है। सूरज का सातवाँ घोड़ा यथार्थ-वादी उपन्यास है। उसे हम आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यास कह सकते हैं। उपरिलिखित कारणों से उसमें साम्यावाद का विरोध प्रकट है। साम्यवाद का विरोध हो, इससे शिकायत नहीं, पर वह आधारभूत विचार से उद्भूत होना चाहिए। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में ऐसा नहीं है, लेकिन इसके बावजूद यह एक सबल रचना है।

महेन्द्रनाथ ने 'आदमी और सिक्के' के बाद 'रात अँधेरी है,' लिखा है, जो उनके कदम को पीछे नहीं, आगे लेजाता है। महेन्द्रनाथ सशक्त, समवेदन शील और जागरूक कलाकार हैं। अपने गहरे विषाद

पर, जो उनकी कहानियों और उपन्यासों में झलक उठता है वे संयम पा लेंगे तो निश्चय ही सुन्दरतम कृतियों से साहित्य का भण्डार भरेंगे।

युवक लेखकों में जितेन्द्र का 'ये घर ये लोग' अत्यन्त सबल यथार्थवादी रचना है। निम्न मध्यवर्ग के युवक की कुण्ठा, खीझ, अहं, विकृति और दफ़्तरी ज़िन्दगी के घिनावनेपन का ऐसा सुन्दर, सजीव और सशक्त चित्रण जितेन्द्र ने 'ये घर ये लोग' में किया है कि उसकी कलम का लोहा मानने को विवश होना पड़ता है।

नरेश महता का उपन्यास 'डूबते मस्तूल' अभी कुछ ही दिन पहले प्रकाशित हुआ है। कहानी यद्यपि असम्भव सी लगती है, पर स्टाइल अनायास मन को मोह लेता है और अपने साथ बहाये लिये चलता है।

राजेन्द्र यादव ने न केवल बड़ी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं, वरन् एक यथार्थवादी उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' भी हिन्दी पाठकों को दिया है। यादव की कलम में ज़ोर है। अपनी त्वरा पर उन्होंने संयम पा लिया और विचारों को साफ़ कर लिया तो निश्चय ही बड़ी सुन्दर कृतियाँ पाठकों को देंगे।

कहानी लेखकों में राधा कृष्ण, नरेश महता, राधा कृष्ण प्रसाद, कृष्णा सोबती, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, ओमप्रकाश, जितेन्द्र, रामकुमार, छेदीलाल गुप्त, अनन्तकुमार पाषाण, विद्यासागर नौटियाल, मनोहर श्याम जोशी, रामदरस मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, केशवचन्द्र मिश्र, कुमारी कल्पना, ज्योतेन्द्र इत्यादि युवक कथाकार सुन्दर स्वस्थ और उपादेय कृतियों का सृजन कर रहे हैं।

और यों 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' के बाद उस परम्परा का कोई उपन्यास नहीं निकला, न वैसी कहानियाँ ही अधिक आयी हैं। लेखकों का रुख जैनेन्द्र की समाज विरोधी प्रवृत्तियों से हटकर समाज हितैषिता की ओर मुड़ा है। और प्रेमचन्द की परम्परा शिथिल न होकर मज़बूत पगों से अग्रसर है।

भारतीय रंगमंच

भारतीय रंगमंच की परम्परा इस देश में ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण लगभग आठ सौ वर्ष पहले टूट चुकी थी। दिगनाग, कालिदास, भवभूति के काल का रंगमंच, उसका स्वरूप शिल्प और उस युग की अभिनय कला के अवशेष भी इस पीढ़ी को नहीं मिल सके। उसका चित्र किताबी रूप में स्वयं इन महाकवियों के नाटकों अथवा भरत के नाट्य-शास्त्र तक ही सीमित रह गया, व्यावहारिक रूप से उसका ज्ञान हम तक नहीं पहुँचा। कालिदास के कुछ नाटकों के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार प्रत्येक राज्य में रंगमंडप स्थापित किये जाते थे जो उस जनपद अथवा राज्य के सार्वजनिक सांस्कृतिक केन्द्र हुआ करते थे। नाटक में मंच की व्यवस्था, अभिनय, नृत्य और चतुष्पदियों के गायन का उल्लेख भी हमें मिलता है। यद्यपि यह कहना अब कठिन है कि वीणा के अतिरिक्त और कौन से वाद्य अथवा वाद्य समूहों का प्रयोग नाटक प्रस्तुत करते समय किया जाता था।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक में मालविका के चतुष्पदी गाते हुए नृत्य करने का दृश्य दिया गया है।

इसके बाद उस परम्परा की कड़ी इतिहास के अन्धकार में खो गयी। राजाश्रय में भारतीय रंगमंच के लिए कोई स्थान फिर न रहा। किन्तु रंगमंच की परम्परा जनपद और ग्रामों में सामूहिक नृत्य, खुले मैदानों के ग्राम-अभिनय आदि में चलती रही, जो प्रकारान्तर से रास, स्वांग, नकल, नौटंकी आदि द्वारा जीवित रही।

१६वीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते रंगमंच के पुनर्जीवन के चिन्ह फिर दिखायी देने लगते हैं और वाजिदअली शाह के आश्रय में उसके दरबारी कवि 'अमानत' की 'इन्दर सभा' उठकर अनायास हमारे सामने आ जाती है। 'इन्दर सभा' काव्य-संगीत-नृत्यमय नाटक था। स्वयं वाजिदअली शाह ने इसमें राजा इन्द्र का पार्ट किया था। इस नाटक की सफलता को देखकर इसके अनुकरण ही में 'लैला मजनूँ', 'सज्जाद सम्बुल', 'गुल बकावली' और 'शीरीं फ़रहाद' आदि नाटक लिखे गये। इन नाटकों की भाषा काव्यमय थी। जब इन नाटकों को हिन्दू भी देखने आने लगे तो उस समय की नाटक कंपनियाँ 'तालिब' रचित 'हरिश्चन्द्र', 'सीता स्वयंवर', 'द्रौपदी स्वयंवर', 'राजा गोपीचंद' आदि नाटक भी खेलने लगीं।

इन नाटकों में न केवल उर्दू का रंग ग़ालिब था, बल्कि इनके अधिकांश अभिनेता भी मुसलमान थे और धार्मिक भूमिकाओं में वही उतरते थे। जब शकुन्तला नाटक में धीरोदात्त नायक दुष्यंत की भूमिका में काम करने वाला अभिनेता खेमटे वालियों की तरह कमर लचका कर 'पतली कमर बल खाय न जाय' गाता तो कालिदास के भक्तों के मन पर क्या गुज़रती होगी, इसका अनुमान भारतेन्दु बाबू के मन में होने वाली प्रतिक्रिया से लगाया जा सकता है।

यहीं से हिन्दी नाटक एक साथ दो रास्तों पर चलने लगा। एक ओर साहित्यिक नाटक की परम्परा रही, जिसका सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में किया। इसमें यद्यपि हमारी सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक चेतना को प्रस्फुटन का पूरा-पूरा अवसर मिला, पर यह एमेचर रंगमंच के आगे नहीं बढ़ पायी। दूसरी ओर 'इंदर सभा' की परम्परा रही, जो पारसी कम्पनियों द्वारा आग़ा 'हश्र', 'बेताब', 'राधेश्याम' और रहमत के नाटकों द्वारा चलती रही। पहली के नाटकों में साहित्यिकता, सुरुचि और सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का स्थान रहा। दूसरी में जनरुचि (उसका परिमार्जन नहीं, बल्कि सस्ते मनोरंजन द्वारा उसकी तृप्ति) का ही ख़याल रखा गया। काव्य का दामन छोड़ कर नाटक ने गद्य की शरण ली, लेकिन पग-पग पर शेरों का बाहुल्य, गद्य की अनुप्रासमयी भाषा और चलती तर्ज़ों के नाच गाने तथा सस्ता हास्य-विनोद सीधे 'हश्र' तक आया।

लेकिन व्यावसायिक रंगमंच की यह परम्परा जहाँ फ़िल्मों के आते ही लुप्त हो गयी, साहित्यिक नाटकों का सृजन हिन्दी में निरन्तर जारी रहा और एमेचर रंगमंच पर उनका अभिनय भी होता रहा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के बाद 'प्रसाद' ने अपनी अनवरत साधना द्वारा एक से एक अच्छा नाटक प्रस्तुत कर, उस परम्परा को आगे बढ़ाया। 'प्रसाद' के बाद डा० रामकुमार वर्मा, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री हरिकृष्ण प्रेमी और दूसरे नाटककार उसे अपनी साधना से सींच रहे हैं।

इधर देश की स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्र की भावनाओं को मूर्त रूप देने वाले कला-कौशल के विकास की ओर हमारा ध्यान गया है। कोई भी देश हो, उसके राष्ट्रीय जागरण में उसके रंगमंच को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि राष्ट्रीय संस्कृति के जागरण के इस युग में रंगमंच की आवश्यकता और भी महसूस की जाने लगी।

एक ओर बम्बई में फिर से व्यापारिक रंगमंच ने जन्म लिया और 'पृथ्वी थियेटर्स' ने एक के बाद एक सुन्दर नाटक प्रस्तुत किया। दूसरी ओर एमेचर रंगमंच में नयी जान आयी और बाबू हरिश्चन्द्र से लेकर डा० वर्मा के नाटक एमेचर मंच पर खेले जाने लगे। लेकिन प्रकट है कि इनमें सामूहिकता के सूत्र का अभाव है और ये प्रयास सरकारी आश्रय के बिना ही किये जा रहे हैं। सामूहिक हिन्दी रंगमंच के निर्माण में सरकार के आश्रय का योग ज़रूरी है, लेकिन केवल सरकारी आश्रय राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण नहीं कर सकता।

वर्तमान स्थिति में हिन्दी का रंगमंच तीन तरह का रूप ले सकता है :

● 'पृथ्वी थियेटर्स' की तरह दूसरी नाटक कंपनियाँ कायम हों और देश भर में अपने नाटक दिखाती फिरें।

● केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें अपनी-अपनी जगह नाटक इकादमियाँ और रंगमंच कायम करें।

● एक सुगठित आन्दोलन के रूप में हमारी दैनिक और सामाजिक समस्याओं का हल सरल, बोधगम्य और लोकप्रिय नाटकों के रूप में प्रस्तुत करता हुआ ऐसा रंगमंच निर्मित हो, जिसमें हमारी राष्ट्रीय गति-विधि, रीति-नीति और इच्छा-आकांक्षाएँ मूर्तरूप पायँ।

जहाँ तक पहले रूप का सम्बन्ध है, व्यापारिक रंगमंच अभी पारसी थियेटर के ज़माने के रंगमंच से कहीं कमज़ोर है। देश भर में एक कम्पनी है और उसके पास भी कोई अच्छा थियेटर नहीं। व्यापारिक कम्पनियाँ और अधिक मात्रा में खुलें, इसके लिए ज़रूरी है कि बड़े क़स्बों और शहरों में आधुनिक साज़-सामान से लैस रंगमंडप बनाये जायँ, जिनमें सफ़री कम्पनियाँ आकर अपने नाटक दिखा सकें।

प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारें रंगमंच की ओर ध्यान दे रही हैं। केन्द्रीय नाटक इकादमी कायम हो गयी है और एमेचर नाटक

प्रतियोगिताओं का आरम्भ हो गया है। लेकिन मेरे खयाल में यह प्रयास उस समय तक पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक पहले क़स्बों और शहरों में ऐसे रंगमंडप सरकारों द्वारा निर्मित नहीं किये जाते, जहाँ एमेचर और अन्य संस्थाएँ अपने नाटक खेल सकें। सरकारों द्वारा ऐसे रंगमंडप बनाये जाने के बाद इस बात का ध्यान रखना ज़रूरी है कि वे मंडप बनाये तो सरकार द्वारा जायँ पर उनका नियंत्रण सरकार का न हो और हर एमेचर संस्था अपने विचार जनता के सामने रखने का अवसर पा सके। यद्यपि इस बात का खयाल रखना ज़रूरी होगा कि वे रंगमंडप राजनीतिक पार्टियों का अखाड़ा बनकर न रह जायँ।

लेकिन हिन्दी रंगमंच के ये दोनों रूप अर्थात् व्यावसायिक और सरकारी, अपनी आधारभूत त्रुटियों के कारण हमारे हिन्दी रंगमंच को वह भव्यता प्रदान नहीं कर सकते जिसका कि वह अपनी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परम्परा के कारण अधिकारी है। किसी भी भाषा या राष्ट्र का रंगमंच (और अब तो हिन्दी राष्ट्र-भाषा है और वह समय दूर नहीं जब हिन्दी-रंगमंच राष्ट्र-रंगमंच का पर्यायवाची होगा।) उस समय तक उन्नत नहीं कहला सकता जब तक वह पुरानी कला-कृतियों को देशवासियों के सम्मुख रखने के साथ-साथ नयी कला और कण्टेण्ट से विभूषित आधुनिक नाटकों के अभिनय की व्यवस्था नहीं करता। इस काम के लिए एक सुसंगठित आन्दोलन की आवश्यकता है। यह आन्दोलन कोई नेता ही चलाये, ऐसी बात नहीं। नाटक में दिलचस्पी लेने वाले अपने-अपने दायरे में भली भाँति इसे चला सकते हैं। प्रकट है कि यह आन्दोलन एमेचर होगा। व्यापारिक कम्पनियाँ और सरकार के तत्त्वावधान में किये जाने वाले नाटक उसे प्रोत्साहन तो देंगे ही, पर शक्ति वह अपने ही अन्दर से ग्रहण करेगा। एमेचर रंगमंच आन्दोलन को (कम से कम नगरों और क़स्बों में) पूर्ण रूप

से सफल होने के लिए चौमुखा रूप धरना होगा। एक ओर रीडिंग क्लब होंगे, दूसरी ओर ड्राइंग रूम क्लब, तीसरी ओर एमेचर रंगशालाएँ और चौथी ओर 'ओपन एयर' रंगमंच।

रीडिंग क्लब—ये स्कूलों और कालेजों की नाटक समितियों के तत्वावधान में खोले जा सकते हैं और स्वतंत्र रूप भी ले सकते हैं। इन क्लबों में अच्छे-अच्छे नाटक पढ़े जाने चाहिएँ। पढ़े जाने का यह मतलब नहीं कि स्वयं नाटककार वहाँ जाकर अपने नाटक पढ़े। मतलब यह है कि एक नाटक चुन लिया जाय, उसके पार्ट समिति के सदस्यों में बाँट दिये जायँ और एक दिन नियत कर लिया जाय। उस दिन वे लोग इस प्रकार नाटक पढ़ें, जैसे वे उसे खेल रहे हों। यहीं पता चल जायगा कि नाटक में कितना दम है, कि कौन सदस्य किस भूमिका के लिए उपयुक्त है। जो नाटक रीडिंग समिति में सफल हो जाय, उसे दूसरी अथवा तीसरी स्टेज-याने ड्राइंग रूम अथवा एमेचर स्टेज पर ले जाया जा सकता है।

ड्राइंग रूम क्लब—ड्राइंग रूम या घरेलू नाटक का स्तर, जहाँ तक अभिनय का सम्बन्ध है, उपरोक्त पढ़े जाने वाले नाटक से ज़रा ऊँचा होगा। कोई बड़ा ड्राइंग रूम हो या किसी क्लब का हाल हो, दो एक तख्तों को मिलाकर बनाया गया छोटा सा मंच हो, गृहपति के मित्र अथवा क्लब के सदस्य ही दर्शक हों, चंद-एक पात्रों वाला छोटा सा नाटक हो— बस इससे अधिक ड्राइंग रूम में खेले जाने वाले नाटक के लिए कुछ नहीं चाहिए।

एमेचर रंगशाला—घरेलू रंगमंच की स्टेज पार कर नाटक एमेचर रंगशाला पर आयेगा। दिल्ली का 'वेवल थियेटर' इसी प्रकार की रंगशाला है, जहाँ छोटी-छोटी एमेचर संस्थाएँ अपने नाटक करती हैं। सरकारी रंगशालाएँ कायम हुईं तो वहाँ, नहीं तो एमेचर सोसाइटियाँ किसी स्थानीय सिनेमा हाल को दो तीन दिन के लिए किराये पर

लेकर नाटक खेल सकती हैं। पहले दो पड़ाव, अर्थात् रीडिंग और ड्राइंग रूम क्लब इस मंज़िल तक पहुँचने के लिए कितने ज़रूरी हैं, इसकी कल्पना की जा सकती है। इन तीन तरह के नाटकों को पढ़ने अथवा खेलने के लिए अलग-अलग समितियां बनाने की आवश्यकता नहीं। एक ही समिति इस काम को भली-भाँति सरंजाम दे सकती है।

ओपन एयर थियेटर—एमेचर रंगमंच के आन्दोलन में खुले मंच के नाटकों का बड़ा महत्व है, क्योंकि हमारे देहात का नाटक यदि कोई रूप लेगा तो वह यही होगा। नौटंकी और रास लीला के सम्मिश्रण से नये नाटकों का आविर्भाव होगा जो खुले मंच पर देहात के लोगों की समस्याओं को उनके सामने रखेंगे। शहरों में भी ऐसे रंगमंच कायम किये जा सकते हैं। लाहौर का 'ओपन एयर थियेटर' इसकी मिसाल है, जहाँ एमेचर संस्थाएँ बड़ी सफलता से नाटक खेलती थीं।

एकांकी का विकास

हिन्दी के नाटक-साहित्य में आज एकांकी ने अपने लिए एक स्थायी महत्व का स्थान प्राप्त कर लिया है। एकांकी पढ़ने के लिए, खेलने के लिए और आल इंडिया रेडियो के विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित करने के लिए लिखे जाते हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, जब हमारा चिर-सुप्त रंगमंच आज जीवन की अंगड़ाई लेकर जाग रहा है, इस बात की आशा हो चली है कि एकांकी स्कूलों और कालेजों की सीमित परिधि तज कर, देहात के विस्तृत प्रांगण में फैल जायगा।

लेकिन आज से पन्द्रह बीस वर्ष पहले आधुनिक एकांकी को हिन्दी में कोई जानता भी न था। हिन्दी में एकांकी का सर्वथा अभाव हो, ऐसी बात नहीं। बहुत पहले हिन्दी में प्रहसन लिखे जाते थे (अधिकतर पढ़े जाने के हेतु) उनमें से कुछ एकांकी की पुरातन कला पर पूरे भी उतरते थे, पर न वे खेले जाते थे और न उनमें एकांकी की आधुनिक कला का प्रतिपादन था।

एकांकी की परम्परा हमारे यहाँ संस्कृत के नाटक-साहित्य तक ले जायी जा सकती है। भारत के स्वर्ण-युग में जहाँ कला के दूसरे अंगों का पूर्ण-विकास हुआ था, वहाँ एकांकी भी अपनी विभिन्नता के साथ उपस्थित था। महाकवि भास का 'उरु भंग' और नीलकंठ का 'कल्याण सौगंधिक' प्रसिद्ध एकांकी हैं। इनके अतिरिक्त 'गोष्ठी', 'नाट्य रासक' 'उल्लाप्य', 'काव्य' तथा 'अंक' आदि एकांकी ही के भिन्न रूप हैं। किन्तु संस्कृत के बाद हिन्दी तक आते-आते, जहाँ तक एकांकी का सम्बन्ध है, समय की गति में एक बड़ा गर्त्त दिखायी देता है। हिन्दी में पहले पहल एकांकी नाम की चीज़ भारतेन्दु तथा उनके समकालीनों के यहाँ दिखायी देती है। उस काल के एकांकी बड़े अपरिपक्व, आधुनिक एकांकी कला के तत्वों से वंचित, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा यथार्थ के पुट से हीन थे। उनमें बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विलाप, अंध-भक्ति-भाव आदि समाज-सुधार सम्बन्धी छोटे-छोटे विषयों को कहानी में न कह कर, प्रसहन के रूप में कहने का प्रयास किया जाता था। सम्वाद उन एकांकियों का मुख्य अवलम्ब था और गति-हीनता भारी दोष, जिसके कारण 'प्रसहन' का नाम धरते हुए भी 'हास्य' का उनमें अभाव था। अधिकांश में हास्य प्रस्तुत करने के प्रयास खासे हास्यास्पद हो जाते थे। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ, प्रतापनारायण मिश्र आदि इस काल के प्रमुख एकांकी लेखक हैं। 'तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण', 'चौपट चपेट', 'जैसा काम वैसा परिणाम' कुछ एकांकियों के शीर्षक हैं। इन नामों ही से उन एकांकियों के गुण-दोषों का अनुमान विज्ञ पाठक कर सकते हैं।

इसके पश्चात् प्रसाद जी के 'एक घूँट' तथा उसके साथ अथवा कुछ काल पश्चात् लिखे गये एकांकियों का युग आता है। डा० रामकुमार वर्मा के पहले एकांकी भी इसी युग में आते हैं। इस युग पर

पश्चिम का सीधा प्रभाव पड़ा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जिस प्रकार कहानी और उपन्यास हिन्दी में बंगला से होकर आये, उसी प्रकार एकांकी भी। १६२८ तक द्विजेन्द्रलाल राय के प्रायः सभी नाटक और रवि बाबू के प्रमुख नाटक—'डाकघर', 'राजा रानी', 'चित्रांगदा', कर्ण-कुन्ती' आदि हिन्दी में आ चुके थे। इन नाटकों का प्रभाव हिन्दी पर न पड़ता, यह असम्भव था। १६२८ में प्रसाद का 'एक घूँट' प्रकाशित हुआ। यह संवाद प्रधान नाटक है। कार्य-गति इसमें नहीं के बराबर है और सम्भाषणों पर रवि बाबू का प्रभाव है। यही दशा उस समय में लिखे गये दूसरे एकांकियों की है। रवि बाबू पर 'मैतरलिंक' का बड़ा प्रभाव था। उनके 'डाक घर', 'राजा रानी' आदि नाटकों पर विशेषकर! क्योंकि रवि बाबू के इन नाटकों का प्रभाव हिन्दी के एकांकियों पर स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से है, इसलिए यह कहना अनुचित नहीं कि हिन्दी एकांकी के आरम्भिक काल पर पश्चिम का प्रभाव यदि प्रकट रूप से नहीं तो परोक्ष रूप से अवश्य रहा। संस्कृत के विद्वान होने के नाते प्रसाद ने निश्चय ही राय तथा रवि बाबू के अतिरिक्त संस्कृत के साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की, परन्तु इस समय के दूसरे नाटककारों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता।

श्री रामनाथ लाल 'सुमन' 'एक घूँट' ही को आधुनिक हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते हैं। 'एक घूँट' एकांकी है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु यह आधुनिक है, ऐसा कहना शायद ग़लत होगा। इसकी कला संस्कृत एकांकियों की-सी है और सम्भाषण रवि बाबू के-से। आधुनिक नाटक का सा आरम्भ, विकास व उत्कर्ष, यथार्थता अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इसमें बिलकुल नहीं। इसके अतिरिक्त परिहास का प्रयास बड़ा भोंडा है। उस समय रंगशाला ऐसे हास्य से अपरिचित थी जो स्थिति अथवा मनोवैज्ञानिक सत्य पर अवलम्बित हो। विदूषक यह हास्य प्रस्तुत करता था। 'एक घूँट' का चँदोला यह कार्य पुरानी परिपाटी

के अनुसार भली-भाँति सम्पन्न करता है। गति का इसमें नितान्त अभाव है। इसके सम्वाद भी खड़े-खड़े से हैं। जैसे कोई व्यक्ति रुके-रुके बोलने लगे, गाने लगे और फिर हँसने लगे, चले बिलकुल नहीं। ऐसी ही इसकी गति है। परन्तु हिन्दी एकांकी के इतिहास में 'एक घूंट' का महत्व कम नहीं। इसे हम प्राचीन और अर्वाचीन नाटक के बीच की कड़ी मान सकते हैं।

१९३५ में भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह पर पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट है। पश्चिमी कला ही का नहीं, विचार-धारा का भी समावेश इस संग्रह के नाटकों में है। न केवल संग्रह के द्वारा नाटककार ने नयी समस्याओं को हिन्दी पाठकों के समक्ष रखा, वरन् नयी कला को भी।

१९३५ से ४० तक आधुनिक एकांकी बड़ी क्षिप्र गति से हिन्दी में अपना अस्तित्व पाने लगा। पहले छिटपुट एकांकी प्रकाशित होते थे, पर १९३८ में हंस सम्पादक श्रीपतराय ने हंस का एकांकी नाटक अंक प्रकाशित कर, इसे स्पष्ट रूप-रेखा प्रदान की। इस अंक में न केवल मौलिक एकांकी थे, वरन् अनूदित भी। इस अंक से छै सुन्दर एकांकी चुन कर श्रीपतराय ने उन्हें 'छै एकांकी' के नाम से पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित किया। सम्पादक हंस के इन दोनों प्रयत्नों ने एकांकी को निश्चित रूप ही नहीं, निश्चित मार्ग भी दिया।

इसके साथ ही आल इंडिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों पर एकांकियों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता ने न केवल पुराने एकांकीकारों को सतत् एकांकी लिखने की प्रेरणा दी, वरन् नये एकांकीकार भी पैदा किये। रेडियो के एकांकी केवल ध्वनि के अवलम्ब को लेकर चलते हैं। उनका क्षेत्र और भी सीमित हो जाता

है। कुछ एकांकीकार रंगमंच के लिए एकांकी लिख कर उनके रेडियो संस्करण बनाते रहे। कुछ रेडियो के लिए 'फ़ीचर' (रेडियो-रूपक) लिख कर बस उतने से ही संतुष्ट रहे। कौन से एकांकी स्टेज को ध्यान में रख कर लिखे गये और कौन से केवल रेडियो को, यह विषय आलोचकों तथा अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए बड़ा मनोरंजक होगा। जहाँ तक संकलन कर्ताओं का सम्बन्ध है, वे अंधाधुंध संकलन किये जा रहे हैं, बिना यह जाने कि नाटक रंगमंच के लिए लिखा गया अथवा रेडियो के लिए!

१६४५ के बाद एकांकी ने एक नये युग में प्रवेश किया है। एकांकी की कला निखर गयी है, उसमें विभिन्नता आ रही है और अब मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रचारात्मक, छाया-नाटक, ध्वनि-नाटक, गीति-नाटक, नृत्य-नाटक तथा कई अन्य प्रकार के नाटक लिखे जाने लगे हैं। एकांकी की इस प्रगति में अ० भा० पीपुल्स थियेटर (इपटा) का विशेष हाथ है। 'इपटा' ने चाहे अपने एकांकी तथा संगीत और नृत्य-नाटक एक विशेष प्रचारात्मक दृष्टि-कोण से लिखे और खेले हैं, पर एकांकी के माध्यम से क्या कुछ किया जा सकता है और एकांकी की स्टेज पर कैसे प्रयोग किये जा सकते हैं, यह भली-भाँति जना दिया है। इन प्रयोगों के अनुकरण में, देश की स्वतंत्रता के बाद, एकांकी की अपूर्व-प्रगति के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। स्कूलों और कालेजों से निकल कर एकांकी क़स्बों और गाँवों की नाटक मंडलियों पर अधिकार जमा रहा है। सरकारी, ग़ैर सरकारी, राजनीतिक और सामाजिक समितियाँ उसे अपने सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बना रही हैं। यह बात एकांकी के और भी उज्ज्वल तथा प्रशस्त भविष्य की परिचायक है।

हमारे यहाँ एकांकी पहले-पहल अधिकतर पढ़ने ही के लिए

लिखे गये, किन्तु इंगिलस्तान में एकांकी का जन्म रंगमंच की आवश्कयता ही के कारण हुआ, वह घटना मनोरंजक भी है और एकांकी के तत्वों तथा एकांकी की सम्भावनाओं की ओर इंगित भी करती है। इस लिए एकांकी की कला और उसके तत्वों का उल्लेख करने से पहले मैं उसका ज़िक्र करूँगा।

आज से सत्तर-अस्सी वर्ष पहले इंग्लिस्तान में एकांकी सर्वथा लुप्त था। हमारे यहाँ तो संस्कृत में एकांकी लिखे भी जाते थे, पर अंग्रेज़ी साहित्य में कहीं उनका उल्लेख नहीं। इस लिए जब एकांकी का जन्म हुआ तो न उसे गम्भीरता से लिया गया और न उसे कोई महत्व ही दिया गया। रात को देर से खाना खाने के स्वभाव के कारण, जैसा कि उस समय इंग्लिस्तान के लोगों का था, रंगमंच के मालिकों को किसी ऐसी चीज़ की आवश्यकता पड़ी, जिससे वे दर्शकों का, उस समय तक मनोरंजन कर सकें, जब तक कि देर से खाना खाने वाले रंगशाला में न पहुँच जायँ। वास्तव में रंगशाला में कुछ लोगों के देर से आने के कारण, एक तो नाटक के आरम्भ में विघ्न पड़ जाता था, दूसरे पहले से बैठे हुए दर्शकों को बड़ी असुविधा होती थी। इसी समस्या का हल करने के लिए पट-उन्नायक (Curtain raiser) का आविष्कार किया गया।

यह 'पट-उन्नायक' एक छोटा सा एकांकी होता था, जो पर्दा उठने से पहले खेला जाता था। पहले-पहल इसका रूप घटिया श्रेणी के प्रहसन का सा था, जिसका उद्देश्य मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण और जीवन का यथार्थ अथवा स्वाभाविक चित्रण न होकर दर्शकों का मनोरंजन-मात्र था। इसमें न नाटकीय द्वन्द्व होता था, न अन्तिम बिन्दु। परन्तु १६०३ में लन्दन के वैस्ट एंड थियेटर में एक ऐसी घटना हुई जिसने उसको सस्ते, थोथे और घटिया

श्रेणी के प्रहसन के स्तर से उठाकर एकदम साहित्य का एक महत्व-पूर्ण अंग बना दिया।

उस वर्ष डब्ल्यू डब्ल्यू जैकेब की एक कहानी 'बन्दर का पंजा' एकांकी के रूप में पट-उन्नायक के स्थान पर खेली गयी। किन्तु जब उसका पर्दा गिरा तो लोग इतने प्रभावित हुए कि जिस नाटक को देखने आये थे, उसे देखे बिना हाल से उठ गये।

उस समय रंगमंच के सर्वेसर्वा घबरा गये और इस भय से कि इस छोटे नाटक से लम्बे नाटकों की लोकप्रियता को धक्का न पहुँचे, उन्होंने इसे रंगमंच से निर्वासित कर दिया। एकांकी के लिए यह अच्छा ही हुआ। व्यावसायिक रंगमंच से निकल कर वह देश के विस्तृत रंगमंच पर आया। नगर-नगर रंगशालाएँ बनीं और जीवन की विभिन्न समस्याओं पर एकांकी नाटक खेले जाने लगे। बड़े भारी रंगमंच, पर्दों, फ़र्नीचर अथवा वेश-भूषा के दूसरे प्रसाधनों की एकांकी के लिए आवश्यकता न थी, किसी सम्राट, अमीर, नव्वाब अथवा किसी दूसरे ऐसे ही नायक के बिना भी काम चल सकता था और वे मज़दूर अथवा देहाती जो अधिक शिक्षित न थे, अपनी विविध समस्याओं का सामाधान एकांकी के छोटे से मंच पर पाने लगे। इस प्रकार इंग्लिस्तान में एकांकी नाटक ने मनोरंजन के साथ-साथ समाज-सुधार और शिक्षा-प्रसार का काम भी किया और साहित्य के एक कोने में अपने लिए सुदृढ़ स्थान बना लिया। एक आलोचक ने उक्त घटना का उल्लेख इन शब्दों में किया है:—

"In that event nothing better could have happened to it, for if it proved to be a death blow to Curtain Raiser, it resulted in the birth of short play as a new, vivid and a distinct form of Dramatic Art."

अर्थात् उस समय एकांकी नाटक के लिए इससे ('बन्दर का पंजा' की सफलता से) अच्छी कोई बात न हो सकती थी, क्योंकि यदि एक ओर यह घटना 'पट-उन्नायक' की मृत्यु का कारण बनी तो दूसरी ओर इससे उस संक्षिप्त नाटक का जन्म हुआ जो कला का एक अभिनव, स्पष्ट और पृथक अंग बन गया।

इसी एक घटना से हमें एकांकी के तत्वों का और उस अन्तर का पता चल जाता है जो आधुनिक बड़े नाटक और एकांकी में है।

एकांकी का सब से पहला तत्व उसका छोटा कैनवस है। 'पट-उन्नायक' स्वयं एक छोटा प्रहसन होता था। 'बन्दर का पंजा' एक कहानी थी और उसका नाटकीय संस्करण भी, उसमें दृश्य-परिवर्तन होने के बावजूद, छोटा ही था। इस घटना ने जिन नाटकों को जन्म दिया वे भी छोटे थे। एकांकी उन्हें इसलिए कहा गया कि उनकी अवधि उस समय के एक अंक जितनी थी और जहाँ कुछ एकांकियों में दृश्य-परिवर्तन भी थे, वहाँ अधिकांश ऐसे एकांकी लिखे गये जिनमें न केवल एक ही अंक था, वरन् दृश्य भी एक ही था।

उस समय जब पुराने पाँच-पाँच अंकों और बीस-बीस दृश्यों के स्थान पर तीन बड़े अंकों के (जिन में से अधिकांश में एक अंक एक ही दृश्य का होता था) नाटक खेले जाने लगे, एकांकी में भी दृश्य-परिवर्तन कम होते-होते एक पर आ गया, यद्यपि अब भी ऐसे एकांकी लिखे जाते हैं जिनमें तीन-तीन दृश्य रहते हैं, किन्तु आधिक्य ऐसे ही एकांकियों का है, जिनमें एक अंक एक ही दृश्य का होता है।

यहीं एक दूसरा प्रश्न उठता है कि यदि कोई नाटककार ऐसा एकांकी लिखे, जिसमें एक दृश्य अथवा अंक ही डेढ़-दो घंटे का हो

(जो कि आधुनिक बड़े नाटक की पूरी अवधि है,) तो क्या उसे एकांकी कहा जायगा ? मेरा उत्तर है—हाँ ! उसे एक अंक का पूरा नाटक कहा जायगा ! परन्तु उसकी गणना एकांकियों में न होकर बड़े नाटकों में होगी। इस में संदेह नहीं कि आलोचक कहानियों और उपन्यासों का भेद बताते हुए सौ-सौ, दो-दो सौ पृष्ठ की कहानियों को भी (यदि वे कहानी कला पर पूरी उतरती हों) कहानी ही कहते हैं, पर जनता उन्हें उपन्यास अथवा नावलेट ही के नाम से याद करती है। सज्जाद ज़हीर का नावलेट 'लन्दन की एक रात' और यशपाल का नावलेट 'पार्टी कामरेड' इसके उदाहरण हैं। यही हाल उस लम्बे एकांकी का भी होगा।

आलोचकों में आधुनिक बड़े नाटक की कला के सम्बन्ध में बड़ी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। हिन्दी में आधुनिक ढंग के बड़े नाटक लिखे ही बहुत कम गये हैं। हिन्दी-भाषी अभी तक प्रसाद के बड़े-बड़े नाटकों के अभ्यस्त होने के कारण आधुनिक बड़े नाटक की कला को समझ नहीं पाये। इस लिए उन नाटकों को, जो आधुनिक कला की दृष्टि से बड़े पूरे नाटक (Full plays) हैं, हमारे आलोचक तथा संकलनकर्त्ता एकांकी समझ लेते हैं। अभी कुछ दिन पहले एक विद्वान संकलनकर्ता ने मेरा बड़ा नाटक 'उड़ान' एकांकी समझ कर ही अपने संग्रह में दे दिया।

● आधुनिक बड़ा नाटक डेढ़ घंटे से अढ़ाई घंटे के अन्दर-अन्दर समाप्त हो जाता है। इसमें प्रायः तीन चार अंक होते हैं। यद्यपि कुछ नाटकों के किसी-किसी अंक में दो-तीन दृश्य भी होते हैं, परन्तु अधिकांश नाटकों के अंक ही दृश्य होते हैं। अर्थात् उन्हें तीन अंक भी कह सकते हैं और तीन दृश्य भी। संकलन-त्रय के कारण दृश्य-परिवर्तन कम-से-कम होता जा रहा है। एक अंक में एक ही दृश्य होता है। महत्व की बात नाटक की अवधि है। यदि

कोई नाटककार संकलन-त्रय का प्रयोग इस ढंग से करे कि एक ही अंक दो घंटे का लिख दे तो एकांकी होते हुए भी वह पूरा नाटक ही होगा। उसी प्रकार जैसे यदि कोई-कथाकार किसी कहानी को दो अढ़ाई सौ पृष्ठ में लिख दे तो वह उपन्यास बन जायगी, कहानी न रहेगी।

इस आधुनिक बड़े नाटक की तुलना में आधुनिक एकांकी दस मिनट से लेकर आध घंटे, पैंतालीस मिनट तक समाप्त हो जाता है, चाहे उसमें एक दृश्य हो अथवा दो तीन। मेरा नाटक 'सूखी डाली' तीन दृश्यों का होकर भी एकांकी है, परन्तु 'आदि मार्ग'* का 'भँवर' तीन दृश्यों का होकर भी पूरा नाटक है। जिस प्रकार बड़ा नाटक डेढ़ घंटे से बढ़कर तीन घंटे तक हो सकता है, उसी प्रकार एकांकी भी दस मिनट से बढ़कर एक घंटे तक जा सकता है। सेठ गोविंद दास का एकांकी 'शिवाजी का सच्चा रूप' (जो दस मिनट का है) और 'आदि मार्ग' (जो एक घंटे का है) मेरे इस कथन का प्रमाण हैं।

एकांकी की कला लगभग कहानी की कला है। इस अन्तर के साथ कि जहाँ कहानी में लेखक अपनी ओर से सब कुछ कह सकता है, एकांकी में उसे जो कुछ कहना होता है, वह अपने पात्रों की ज़बानी अथवा उनके अभिनय के माध्यम से कहता है। प्रेमचन्द ने कहानी को एक ही गमले में सजे-सँवरे फूल के एक ही पौधे से उपमा दी है और उपन्यास को विविध पेड़ पौधों और लताओं से भरा एक उद्यान कहा है। एकांकी और बड़े नाटक में भी यही अन्तर है। पात्रों के पूरे चरित्र के किसी अंग की, उनके जीवन के किसी एक अंश की,

---

*'आदि मार्ग' अश्क जी के चार बड़े नाटकों का बृहद् संग्रह है जिसे नीलाभ प्रकाशन प्रयाग ने प्रकाशित किया है।

अथवा उनकी विविध समस्याओं में से किसी एक समस्या की झाँकी ही एकांकी में मिलती है। वातायन से झाँकती हुई किरण जिस प्रकार कमरे का एक भाग ही आलोकित करती है, उसी प्रकार एकांकी के वातायन से दर्शक को पात्र अथवा वातावरण के एक ही पहलू की झलक मिलती है।

संक्षिप्त में, बड़े नाटक की तुलना में एकांकी जीवन के एक अंश का पृथक, विच्छिन्न चित्र उपस्थित करता है। जीवन की एक झाँकी मात्र देता है। विभिन्नता के बदले एकीकरण, विशृङ्खलता के बदले एकाग्रता, पूर्णता के बदले अपूर्णता, फैलाव के बदले सिमटाव, विस्तार के बदले संक्षिप्तता इसके गुण हैं। एकांकी लेखक किसी मूल-भूत विचार को उसकी समस्त सम्भावनाओं के साथ व्यक्त नहीं करता, उसका संकेत मात्र करता है।

नाट्य-विधान की दृष्टि से एकांकी के लगभग वही भाग हैं जो कहानी के।

● *उद्घाटन* : कहानी के आरम्भ ही की भाँति एकांकी का उद्घाटन भी दसियों ढंग से हो सकता है। नाटककार सीधे कथा-वस्तु में प्रवेश कर सकता है—पर्दा उठते ही पात्र बड़े ज़ोरों से किसी बात पर वाद-विवाद करते नज़र आ सकते हैं और उस वाद-विवाद ही से कथा-सूत्र आगे बढ़ सकता है या बाहर दरवाज़े पर दस्तक की आवाज़ आती है या कॉल बैल बज उठती है और नाटक आरम्भ हो जाता है अथवा पर्दा उठते ही पृष्ठ-भूमि में किसी के बातें करते आने की आवाज़ आ सकती है, किसी गाने की गूँज रंगमंच पर छा सकती है और उसी गाने की धुन से कथा-वस्तु का ताना-बाना बुना जा सकता है......आदि आदि

● *विकास* : इसी उद्घाटन में से कथावस्तु (यह कथावस्तु मात्र एक घटना भी हो सकती है ।) का विकास होता है । सम्भाषण अथवा अभिनय की सहायता से नाटक की घटना अथवा कहानी अथवा चरित्र-चित्रण आगे बढ़ता है और दर्शकों की उत्सुकता उसके साथ-साथ आगे बढ़ती जाती है ।

● *चरमोत्कर्ष* : एकांकी में चरमोत्कर्ष वह भाग है जहाँ उत्सुकता अन्तिम विन्दु पर पहुँच जाती है और दर्शक अन्त के लिए व्यग्र हो उठता है ।

● *अन्त* : चरमोत्कर्ष पर पहुँचने के बाद नाटक समाप्त हो जाता है ।

परन्तु जिस प्रकार कहानी की कला चन्द नियमों की सीमा में बद्ध नहीं, इसी प्रकार एकांकी-कला भी बँधे-रुके नियमों की अपेक्षा नहीं रखती । एकांकी के आरम्भ की भाँति उसका अन्त भी तरह-तरह से किया जा सकता है—जिन एकांकियों में एक्शन (कार्यगति) की प्रचुरता रहती है, उनका अन्त प्राचीन नाटकों जैसा होगा । उनकी नाटकीयता दर्शकों को करतल-ध्वनि पर बाधित कर देगी । इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक एकांकी का अन्त किसी एक ऐसे वाक्य पर हो सकता है जो बरमे की भाँति दर्शकों के हृदय को छेदता चला जाय !

रंग-संकेत, कार्यगति, अभिनय, सम्वाद, वातावरण, चरित्र-चित्रण, प्रकाश अथवा छाया का उचित अथवा अनुचित प्रयोग किसी एकांकी को सफल अथवा असफल बनाते हैं । सफल एकांकी में रंग-संकेत स्पष्ट, कार्य-गति क्षिप्र, अभिनय सुन्दर, सम्वाद चुस्त और चुटीले, चरित्र-चित्रण यथार्थ तथा मनोवैज्ञानिक और अवसर के अनुसार प्रकाश अथवा छाया का प्रयोग होना चाहिए ।

आधुनिक एकांकी के यही अंग हैं जो उसे संस्कृत के प्राचीन एकांकी से कहीं ऊँचा उठा देते हैं।

संस्कृत के प्राचीन एकांकी और उसके अर्वाचीन स्वरूप में पहला भेद तो यह है कि जटिल नियमों में बद्ध होने पर भी संस्कृत एकांकी में निर्देश बिलकुल छोटे अथवा नहीं के बराबर थे। इसके विपरीत आधुनिक एकांकी में वे लम्बे, व्यापक तथा स्पष्ट होते हैं। कारण यह है कि रंगमंच की कला, कम-से-कम यूरोप में बड़ी विकसित हो गयी है। खुली हवा में खेले जाने वाले नाटकों से लेकर, घूमने वाले रंग-मंच, बिजली, फुट लाइट्स (Foot Lights) तथा रंगमंच के समस्त प्रसाधनों की सहायता से नाटक खेले जाते हैं। यथार्थ को रंगमंच पर सत्य कर दिखाने के प्रयास में बीसियों साधन प्रयोग में लाये जाते हैं।

दूसरा भेद यह है कि नान्दी, मंगलाचरण, प्रस्तावना, सूत्रधार, नट, नटी, स्वगत आदि जो प्राचीन नाटक के आवश्यक अंग थे, अर्वाचीन नाटक में देखने को भी नहीं मिलते।

तीसरा यह कि अर्वाचीन एकांकी में नायक, नायिका, कथानकों तथा रसों के बंधन भी नहीं।

चौथा यह कि प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक एकांकी जीवन के अधिक समीप है। इसके सम्भाषणों में अधिक यथार्थता, तर्क तथा मनोवैज्ञानिक सत्य रहता है। इसके कथानक कल्पना पर अवलम्बित होते हैं, तो भी वे जीवन की यथार्थता का उल्लंघन नहीं करते। इसका क्षेत्र जीवन ही सा विस्तृत है और यह राजा-महाराजाओं की बेकार घड़ियों के लिए मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने की अपेक्षा जनता के मनोरंजन, शिक्षण और ज्ञान-वर्धन का उद्देश्य पूरा करता है।

अधुनिक कहानी ही की भाँति आधुनिक एकांकी का सबसे बड़ा गुण संकलन-त्रय अर्थात् समय, स्थान और कार्य-गति का गुम्फन है। एक ही समय में एक ही स्थान पर एक सी गति से नाटकीय कार्य चलता है। प्राय: एकांकी रंगमंच पर उतने समय में खेला जाता है, जितने में कि उसकी घटना वास्तविक-जीवन में हो सकती है। एक दृश्य दस वर्ष पहले और दस वर्ष बाद, एक शिमले और दूसरा नैनीताल आधुनिक नाटक में नहीं रहता। यह संकलन-त्रय आधुनिक नाटक को वास्तविकता का अपूर्व पुट दे देता है।

कहानी जैसा गठा हुआ होकर भी एकांकी कहानी नहीं। यह ठीक है कि कुछ कहानियाँ बड़े सफल एकांकियों में परिवर्तित की जा सकती हैं, पर सभी कहानियों के सफल एकांकी नहीं बनाये जा सकते। इस कथन का उलटा भी सत्य है। वास्तव में साहित्य के इन दोनों अंगों में उद्देश्य का अन्तर है। इस उद्देश्य के अन्तर से दोनों की कला में भिन्नता आ गयी है। कहानी का उद्देश्य पाठक के मनोरंजन तथा दृष्टिकोण को और एकांकी का उद्देश्य दर्शक के मनोरंजन तथा दृष्टिकोण को सामने रखना है। इसी लिए जहाँ कहानी में कई बार, जैसा कि दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक कहानियों में, घटना उतनी आवश्यक नहीं होती, वहाँ नाटक में, यह अत्यन्त आवश्यक हो जाती है। फिर एकांकी का मुख्य माध्यम सम्वाद है। एकांकीकार को जो कहना होता है वह सम्वाद और अभिनय द्वारा ही कहता है इस लिए जहाँ कई मनोवैज्ञानिक कहानियाँ एकांकियों में परिवर्तित नहीं की जा सकतीं, वहाँ कई अभिनय-प्रधान एकांकी भी कहानी के रूप में नहीं लाये जा सकते। जिन पाठकों ने 'इपटा' का 'जादू की कुर्सी' देखा है, वे मेरी यह बात भली-भाँति समझ जायँगे। 'जादू की कुर्सी' अभिनय प्रधान नाटक है। और श्री बलराज साहनी के जिस अभिनय

ने दर्शकों को हँसाते-हँसाते लोट-पोट कर दिया, वह कहानी में व्यक्त ही नहीं किया जा सकता।

इसी तरह कुछ आलोचकों का यह मत कि एकांकी सम्भाषण ही का दूसरा नाम है, उतना ही सत्य है, जितना यह कि ईंटों का ही दूसरा नाम मकान है। मकान ईंटों से बना है इसमें कोई संदेह नहीं, पर ईंटें मकान नहीं। ईंटें मकान का प्रमुख साधन हैं। ईंटों के साथ गारा, चूना, लकड़ी कारीगर और दूसरी दस बातें मकान को मकान बनाती हैं।

केवल सम्वाद, चाहे वे कितने भी अर्थपूर्ण तथा मनोरंजक क्यों न हों, नाटक नहीं कहला सकते। नाटक के लिए चरित्र-चित्रण, वातावरण, कथानक, अनन्यमनस्कता (Concentration) की आवश्यकता है। सम्भाषण एक साधन है, जिससे दर्शकों को तन्मय रखा जा सकता है और घटना अथवा कथानक में अनन्यमनस्कता लायी जाती है। किन्तु तन्मय करने वाली चीज़ केवल सम्भाषण नहीं, बल्कि वह घटना अथवा मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो *सम्भाषण* और *अभिनय* के द्वारा दर्शकों को दिखाया जाता है।

अभिनय को रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक में सब से बड़ा महत्व प्राप्त है। प्रायः लम्बे-लम्बे सम्भाषण वह प्रभाव उपस्थित नहीं कर सकते, जो एक छोटी सी भंगिमा, एक दबी-घुटी सिसकी, अथवा स्वर की आर्द्रता कर सकती है। सफल नाटक का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह आरम्भ से अन्त तक दर्शकों को तन्मय रखे (यह बात अच्छे, चुस्त सम्भाषण से भी हो सकती है।) और जब वे उठें तो यह अनुभव हो कि उनका समय और पैसा व्यर्थ बर्बाद नहीं हुआ। और यह बात केवल सम्भाषण से सम्भव नहीं।

हिन्दी में आज कई तरह के एकांकी लिखे जाते हैं। प्रचलित निम्न-लिखित हैं :—

१. सम्वाद—ये एकांकी वास्तव में नाटक नहीं, केवल सम्वाद होते हैं। रंग निर्देश इनमें नहीं के बराबर रहता है। किसी प्रकार के कथानक अथवा घटना-क्रम से ये हीन होते हैं। लेखक कोई चुटकुला अथवा किसी समस्या का हल इस सम्वाद के कथोपकथन द्वारा अपने पाठकों के सम्मुख रख देता है और बस! रेडियो पर तो ये ब्राडकास्ट किये जा सकते हैं, पर रंगमंच पर यदि खेले जायँ तो दर्शकों का मनोरंजन नहीं कर सकते।

२. पाठकों के लिए लिखे जाने वाले एकांकी—इन एकांकियों में नाटकीयता तथा कार्य-गति का अभाव होता है। समस्या होती है, संघर्ष भी होता है, पर लम्बे-लम्बे वाद-विवाद होने अथवा लेखक को रंगमंच का ज्ञान न होने के कारण या फिर लेखक के सामने दर्शक के स्थान पर पाठक का दृष्टिकोण होने के कारण ये नाटक सुपाठ्य तो हो जाते हैं, अभिनेय नहीं। जैनेन्द्र जी का 'टकराहट' ऐसा ही नाटक है।

३. गीति नाट्य—इन नाटकों में कथोपकथन काव्य ही में होता है। श्री उदयशंकर भट्ट ने कुछ ऐसे नाटक लिखे हैं। किन्तु ये भी अभिनेयता के दृष्टिकोण से नहीं, वरन् सुपाठ्यता के दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। गीति नाट्य में यदि गीत, नृत्य अभिनेयता और कहीं-कहीं विराम-स्वरूप गद्यमय सम्भाषणों का समावेश रहे तो रंगमंच पर वह बड़ा सफल हो सकता है। 'इपटा' ने ऐसे गीति नाटक अथवा नृत्य नाटक बड़ी सफलता से खेले हैं। ज्यों-ज्यों हमारा रंगमंच उन्नति करेगा, संगीत, नृत्य तथा अभिनय में जन की रुचि बढ़ेगी, गीति नाट्य भी अपनी सत्ता पा जायगा।

४. रेडियो एकांकी—रेडियो नाटक दो तरह के लिखे जाते हैं।

● *एकांकी* : इस रेडियो एकांकी में सब कुछ वही होता है जो स्टेज एकांकी में। अन्तर केवल यह होता है कि रंगमंच के बदले रेडियो

स्टेशन का माइक्रोफ़ोन इसका माध्यम होता है। भाव-भंगिमा के स्थान पर स्वर-संक्रम अथवा स्वर-भेद महत्ता प्राप्त कर लेता है। कार्यगति भी वही रह सकती है, जिसकी कल्पना उसके स्वर को सुनकर की जा सके। उदाहरणार्थ कुँडी खटखटाने की आवाज़; किसी के ज़ोर-ज़ोर से चलने की आवाज़, आँधी पानी की आवाज़, नदी के बहने, बादल के गरजने, पशु-पक्षियों के बोलने की आवाज़ ध्वनि नाटक में आ सकती हैं, किन्तु मुस्कराना तथा आँख और मुँह की अन्य भाव-भंगिमाएँ नहीं आ सकतीं। यही हाल गति की भंगिमाओं का है। रही शेष कला, सो वह सब दृश्य एकांकी की होती है।

● रेडियो रूपक (Feature)—फ़ीचर में प्रायः नाटकीयता कम और वर्णन (Narration) अधिक होता है। वर्णनकर्ता या उद्घोषक (Narrator) बार-बार आ जाता है और सुनने वालों को कहानी की वे बातें सुनाता है जो सम्भाषण द्वारा प्रस्तुत नहीं की जा सकतीं।

५. *दृश्य नाटक*—एकांकी का सबसे महत्वपूर्ण प्रकार दृश्य नाटक है। ध्वनि नाटक से भी इसकी महत्ता अधिक है, क्योंकि ध्वनि नाटक में नाटक का रसिक केवल सुनता है और दृश्य नाटक में नाटक अपने सामने होते देखता है। यहाँ सुनने और देखने का सम्मिश्रण होता है। इसीलिए आनन्द भी द्विगुन हो जाता है।

एकांकी भारत में बड़ी त्वरित गति से उन्नति कर रहा है। वह दिन दूर नहीं जब नयी भावनाओं, नये विचारों और नये कला-प्रयोगों को लेकर हिन्दी में एकांकी लिखे जायँगे, ध्वनि-यंत्र से प्रसारित किये जायँगे और रंगमंच पर खेले जायँगे।

प्रेमचन्द और देहात

'भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में गुज़ार दे।'

(६ जुलाई, १६३६)

यह पत्र जिसमें से मैं उक्त पंक्तियाँ दे रहा हूँ, प्रेमचन्द ने मुझे अपनी उस लम्बी बीमारी के शुरू में लिखा था जो अन्त में उनकी जान लेकर रही। उम्र का अधिक भाग शहरों में बिताने पर भी प्रेम-चन्द आयु-पर्यन्त देहात में रहे। यह बात कुछ असंगत-सी जान पड़ती है, पर यदि आप उनके जीवन और उसकी हलचलों में रहने वाले शांतिप्रिय हृदय से भिज्ञ हैं, उस दिल की गहराई में ग़ोता लगा सकते हैं तो आपको मालूम होगा कि तन के नाते चाहे वे बनारस में रहे हों या लखनऊ और बम्बई में, पर मन से वे सदैव देहात में रहे; देहातियों—निरीह, निर्धन और भोले-भाले देहातियों के साथ रहे; उनके दुःख-दर्द

में शरीक होते रहे और उन्हें विपत्तियों के गहरे खड्ड से निकाल कर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने के स्वप्न देखते रहे।

मैं प्रेमचन्द और देहात को अलग-अलग नहीं समझता। एक की याद आते ही मेरे सामने दूसरे का चित्र खिंच जाता है और यद्यपि मुझे उनके समीप रहने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ और मैं नहीं जान सका कि वे बाह्यरूप से कितने देहाती थे, पर उनकी अमर कृतियों को देखकर, उनका अध्ययन करके मैं इसके अतिरिक्त किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका कि देहात की रूह उनकी नस-नस में बसी हुई थी। शहरों में रहते हुए भी वे देहात में साँस लेते थे, शहरों में रहते हुए भी वे देहात की उन्नति और प्रगति के विषय में सोचते थे। वे जानते थे, भारत देहात में बसता है। उसकी स्वतन्त्रता और उन्नति देहातियों की स्वतन्त्रता और उन्नति पर निर्भर है। जब तक देहाती, अंध-श्रद्धा, झूठी मर्यादा, अशिक्षा, जहालत और क़र्ज़े के बोझ तले दबे हुए हैं, फ़ज़ूल खर्ची और दुर्व्यसनों की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं, भारत भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता—दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहेगा।

प्रेमचन्द ने देहात पर बीसियों कहानियाँ लिखी हैं, 'पंच परमेश्वर', 'बेटी का धन', 'नमक का दारोग़ा' इत्यादि कहानियाँ देहात के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं, परन्तु अपने उपन्यासों में से मुख्य की नींव भी उन्होंने देहात और उनकी संस्कृति पर ही रखी है। मैं उनके वृहद् उपन्यासों से यह बताने का प्रयास करूँगा कि शहरों की हलचल, सरगर्मी और चकाचौंध ने उनके हृदय से देहात के उस शान्तिप्रद, सरल और सौहार्द भरे वातावरण को नहीं भुला दिया था जहाँ वे पैदा हुए, पले और परवान चढ़े। उनके उपन्यासों में, 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' अधिकतर देहात की राम-कहानी कहते हैं और बताते हैं कि देहातियों के पैरों में कौन-सी

बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं और कौन-सी चीज़ें उन्हें घुन की तरह अन्दर-ही-अन्दर खाये जाती हैं।

'उत्तरीय गिरिमाला के बीच में एक छोटा-सा हरा-भरा गाँव है, सामने गंगा तरुणी की भाँति हँसती-खेलती, नाचती-गाती चली जा रही हैं। गाँव के पीछे एक बड़ा पहाड़ किसी वृद्ध जोगी की भाँति जटा बढ़ाये, काला और गम्भीर, अपने विचारों में निमग्न खड़ा है। यह गाँव मानो उसके बचपन की याद है, उल्लास और मनोरंजन से परिपूर्ण, अथवा भरपूर जवानी का कोई सुनहला स्वप्न। गाँव में मुश्किल से बीस-पचीस झोंपड़े होंगे। पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों को ऊपर नीचे रख कर दीवारें बनायी गयी हैं। उन पर बनकट की टट्टियाँ हैं। इन्हीं काबकों में इस गाँव के वासी अपनी गाय, बैल, भेड़, बकरियों को लिये राम जाने कब से बसे हुए हैं।'

(कर्मभूमि)

नगर के जीवन से तंग आये हुए अमरकान्त को यह गाँव सुन्दर और सुरम्य लगा। वे कहते भी हैं, 'ऐसा सुन्दर गाँव मैंने नहीं देखा नदी, पहाड़, जंगल इसका तो समा ही निराला है, जी चाहता है यहीं रह जाऊँ और कहीं जाने का नाम न लूँ। अमरकान्त ही क्यों, कोई भी प्रकृति-प्रेमी वहाँ जाकर अपनी तप्त आत्मा को शान्त कर सकता है। भारत के देहात प्रकृति के ही रूप हैं। जहाँ पहाड़ हैं, नदी-नाले हैं, हरे-भरे वृक्ष हैं, खेत-खलिहान हैं, वहाँ पत्थर या मिट्टी के बने हुए छोटे-छोटे घरों का चित्र भी मस्तिष्क में अपने आप खिंच जाता है।

एक दूसरी जगह प्रेमचंद ने 'बेलारी' में फागुन के आगमन का वर्णन करते हुए लिखा है—

'फागुन अपनी झोली में नवजीवन की बिभूति लेकर आ पहुँचा।

आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगन्ध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।'

(गोदान, पृष्ठ ३४१)

देहात की यही सुन्दरता है जो प्रेमचन्द को बार-बार अपनी ओर खींचती रही है और यही सुन्दरता है जिसका चित्र खींचते समय प्रेमचंद, लगता है, उसमें खो जाते थे। लेकिन देहात में सुन्दरता ही सुन्दरता हो, आकर्षण ही आकर्षण हो, यह बात नहीं। देहात का आकर्षण, देहात की रमणीयता देहातियों की सम्पन्नता पर निर्भर है। फ़ाक़ेमस्त के चेहरे पर भर-पेट खानेवाले का-सा नूर कहाँ? अमरकान्त ने 'कर्मभूमि' में जो गाँव देखा था वह 'गोदान' के बेलारी से भिन्न था। वहाँ के *वासी मुक्खड़ नहीं थे। एक आना प्रति दिन अथवा बेगार की मज़दूरी* का वहाँ नाम भी न था। अमरकान्त चाहते थे, कोई काम मिल जाय तो गाँव में ही टिक जायँ। उनका अभिप्राय जान कर 'गोबर' कहता है—'काम की यहाँ कौन कमी है, घास भी कर लो तो रुपये रोज़ की मज़दूरी हो जाय, नहीं तो चप्पल बनाओ, चरसे बनाओ, परिश्रम करने वाला भूखा नहीं मारता, खेती की मज़दूरी कहीं गयी नहीं।'

परन्तु बेलारी में परिश्रम करने पर भी भूखा रहना पड़ता है, वहाँ मज़दूरी ऐसे आराम से नहीं मिलती। धनिया कहती है—

'कब तक पुआल में घुस कर रात काटेंगे, और पुआल में घुस भी लें तो पुआल खा कर रहा तो न जायगा, तुम्हारी इच्छा हो तो घास ही खाओ, हम से तो घास न खायी जायगी।'

होरी कहता है—'मज़दूरी तो मिलेगी, मज़दूरी करके खायँगे।'

धनिया पूछती है—'कहाँ है इस गाँव में मजदूरी?'

(गोदान, पृष्ठ २११)

राय साहब वहाँ मज़दूरी लेते हैं, लेकिन एक आना रोज़ देते हैं।

दातादीन पण्डित सेतमेंत या तीन आने रोज़ मज़दूरी देते हैं, परन्तु मेहनत ऐसी कड़ी लेते हैं कि उनके यहाँ कोई मज़दूर टिकता ही नहीं और बेलारी के समीप ही एक ठेकेदार भी मज़दूरी देता है, लेकिन इतनी सख्ती से काम लेता है कि उसके वहाँ मज़दूरी करते-करते होरी अपनी जान से ही हाथ धो बैठता है।

ऐसी हालत में गाँव का चित्र कैसे आकर्षक हो सकता अथवा प्रेमचन्द किस प्रकार अपनी लेखनी के चमत्कार से उसे सुन्दर और आकर्षक बना देते? और यदि ऐसा करते भी तो इस चित्र में एकसूत्रता (Harmony) कहाँ रहती? इसीलिए जब गोबर नगर से घर लौटता है तो वही गाँव जो सम्पन्नता के दिनों में सुन्दर लगता, मन को शान्ति देता था, अब रूखा-फीका और उजड़ा-उजड़ा-सा दिखायी देता है।

'कर्मभूमि' के गाँव के पश्चात् अब 'गोदान' के इस गाँव का भी नक़शा देखिए, कितनी दीनता है और कितना दारिद्र्य!

'गोबर ने घर की दशा देखी तो ऐसी निराशा हुई कि इसी वक्त वहाँ से लौट जाय। घर का एक हिस्सा गिरने-गिरने को हो गया था, द्वार पर केवल एक बैल बँधा हुआ था वह भी नीमजान.........'

'और यह दशा कुछ होरी की ही न थी, सारे गाँव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक भी आदमी न था जिसकी रोनी सूरत न हो, मानो उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो......द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है, मगर उनकी नाक में न गंध है न आँखों में ज्योति। सरेशाम ही द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं, पर किसी को ग़म नहीं।'

(गोदान, पृष्ठ ५६३-५६८)

कहाँ है वह सुन्दरता, वह आकर्षण, वह पवित्रता, जो नगर से आनेवाले को मोह ले, उसका स्वागत करे, उसे बैठा ले कि बस अब

तुम मेरी ठंडी छाया में बैठो, मेरी हरियाली से मन को शान्ति दो, मेरे पवित्र वातावरण में साँस लो। प्रेमचन्द यथार्थवादी थे और अपने उपन्यासों में उन्हों जहाँ-जहाँ देहात का चित्र खींचा है वहाँ प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता के साथ-साथ देहात की सब से बड़ी दिलकशी—देहातियों के जीवन को भी नहीं भूले।

प्रेमचन्द की क़लम में जादू था। जिस चीज़ का ज़िक्र उन्होंने किया उसका चित्र आँखों के सामने खिंच गया। आपने आयु भर कोई गाँव न देखा हो, आपको देहात के मौसमों का कुछ भी ज्ञान न हो, आपको देहात के शीत से पाला न पड़ा हो, आप न जानते हों कि निर्धन किसान पर शरद ऋतु में क्या बीतती है, आप प्रेमचन्द की यथार्थवादी क़लम से खींची हुई तस्वीर देखें, सब कुछ जान जायँगे, सब कुछ अनुभव करेंगे। आपके सामने गाँव की सर्दी और उसमें ठिठुरते हुए किसान का चित्र खिंच जायगा—

'माघ के दिन थे। महावट लगी हुई थी। घटाटोप अँधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, दूसरे माघ की वर्षा। मौत का-सा सन्नाटा छाया था। अँधेरा तक न सूझता था। होरी पुनिया के मटर के खेत की मेंड़ पर अपनी मँड़ैया में लेटा हुआ था, चाहता था शीत को भूल जाय और सो रहे, लेकिन तार-तार कम्बल और फटी हुई मिर्ज़ई और शीत के झोंकों से गीली पुआल—इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिली कि उससे मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था, पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डाल कर और हाथों को जाँघों के बीच में दबा कर, कम्बल में मुँह छिपा कर अपने ही साँसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था, पर बूढ़ा कम्बल अब उसका साथी तो था

मगर अब वह चबाने वाला दाँत नहीं, दुखने वाला दाँत है।'

(गोदान, पृष्ठ १९४)

कितनी दर्दनाक तस्वीर है! गर्मियों के दिनों में यदि वर्षा न हो तो क्या दशा होती है, ज़रा इसका भी हाल पढ़िए:

'सावन का महीना आ गया था और बगूले उठ रहे थे। कुओं का पानी भी सूख गया था और ऊख ताप से जली जाती थी। नदी से थोड़ा-थोड़ा पानी मिलता था, पर उसके पीछे आये दिन लाठियाँ चलती थीं। यहाँ तक कि नदी ने भी जवाब दे दिया, जगह-जगह चोरियाँ होने लगीं, डाके पड़ने लगे। सारे प्रान्त में हाहाकार मच गया।'

और इस दशा में यदि वर्षा हो जाय तो किसानों के दिलों के सूखे कमल किस प्रकार हरे हो जाते हैं। इसका खाका भी प्रेमचन्द ने खींचा है। देखिए—

'बारे कुशल हुई कि भादों में वर्षा हो गयी और किसानों के प्राण हरे हुए। कितना उछाह था उस दिन। प्यासी पृथ्वी जैसे अघाती ही न थी और प्यासे किसान जैसे उछल रहे थे, मानो पानी नहीं अशर्फ़ियाँ बरस रही हैं। बटोर लो जितना बटोरते बने। खेतों में जहाँ बगूले उठते थे, वहाँ हल चलने लगे। बालवृन्द निकल-निकल कर तालाबों और पोखरों और गड़हियों का मुआयना कर रहे थे। 'ओ हो तालाब तो आधा भर गया' और वहाँ से गड़हिया की तरफ़ भागे।'

(गोदान, पृष्ठ २५१)

वर्षा होने पर ज़रा देहातियों की व्यस्तता देखिए—'बरसात के दिन थे। किसानों को ज्वार और बाजरे की रखवाली से दम मारने का अवकाश न मिलता था। जिधर देखिए, हा-हू की ध्वनि आती थी। कोई ढोल बजाता था, कोई टीन के पीपे पीटता था। दिन को तोतों के

झुण्ड-के-झुण्ड टूटते थे, रात को गीदड़ों के ग़ोल, उस पर धान की क्यारियों में पौधे बिठाने पड़ते थे। पहर रात रहे ताल में जाते और पहर रात गये आते थे। मच्छरों के डंक से देह में छाले पड़ जाते थे। किसी का घर गिरता था, किसी के खेत की मेंड़े काटी जाती थीं। जीवन संग्राम की दोहाई मची हुई थी।'—

(प्रेमाश्रम, पृष्ठ २७०)

वर्षा ऋतु के बाद का भी एक चित्र है—

वर्षा ऋतु समाप्त हो गयी थी। देहातों में जिधर निकल जाइए सड़े हुए सन की दुर्गन्ध उड़ती थी। कभी ज्येष्ठ को लज्जित करनेवाली धूप होती थी, कभी सावन को शरमाने वाले बादल घिर आते थे। मच्छर और मलेरिया का प्रकोप था, नीम की छाल और गिलोय की बहार थी। चरावर में दूर तक हरी-हरी घास लहरा रही थी। अभी किसी को उसके काटने का अवकाश न मिलता था।'

(प्रेमाश्रम, पृष्ठ २६४)

प्रेमचन्द की दृष्टि कितनी सूक्ष्म है और क़लम में कितनी सफ़ाई है, यह इन क़लमी चित्रों को देखकर ही मालूम हो जायगा। सारी आयु देहात में बिताने वाला भी शायद इस बारीकी, इस सफ़ाई से देहात का चित्र न खींच सकता जैसा प्रेमचन्द ने इसके बाहर रहते हुए खींचा है।

प्रेमचन्द के देहाती हमारे देहात के भोले-भाले निरीह, ग़रीब, क़र्ज़ के बोझ तले दबे हुए, पुरानी रस्मों और झूठी मर्यादा के पाबन्द, दीन-धर्म के बन्धनों में जकड़े हुए, आन की ख़ातिर मर मिटनेवाले, दर्दरस, बेबस, मज़लूम, विपन्न देहाती हैं। वे गुनाह करते हैं; लेकिन उनका गुनाह भी विवशता का दूसरा नाम है, पाप के कड़वेपन से पाक! उनके पाप में भी उनकी सादालौही टपकती है। उन्हें पाप करते देख कर क्रोध के बदले दया आती है। मैं कहता हूँ, सरकार अथवा

दूसरी संस्थाएँ देहात-सुधार का शोर मचाने के बदले प्रेमाश्रम और गोदान की कापियाँ छपवा कर लाख-दो लाख की संख्या में मुफ्त बाँट दें तो कहीं अच्छा हो। केवल महकमे और संस्थाएँ खोलने से काम न चलेगा। ज़रूरत इस बात की है कि जन-साधारण 'को देहातियों की इस दीनावस्था का ज्ञान हो जाय और वे यह अनुभव करें कि उनकी ये असेम्बलियाँ, उनके ये चुनाव, उनके ये भाषण, देहात सुधार के सम्बन्ध में उनके ये दावे अभी तक महज़ खोखले साबित हुए हैं। सब स्वार्थ और मतलबपरस्ती के सिवा कुछ नहीं और इनसे देहातियों को कोई लाभ नहीं। उनकी अवस्था अब भी वैसी ही दीन है जैसी पहले थी।

'प्रेमाश्रम' में मनोहर ग़ौस खाँ को क़त्ल कर देता है; लेकिन क्या वह पापी है? क्या उसके इस अमानुषीय कर्म पर आपके दिल में उसके लिए उपेक्षा पैदा होती है? वह कमज़ोर ग़रीब और मुफ़लिस देहाती है, रात को उसे ठीक तरह सुझायी भी नहीं देता। आयु के साठ पतझड़ देख चुका है, फिर क्या कारण है कि जिस काम को उसका युवक पुत्र बलिष्ठ और मज़बूत होते हुए भी करने से झिझकता है, उसे वह वृद्ध और दुर्बल होते हुए भी करने के लिए तैयार हो जाता है? यह उसी की ज़बान से सुनिए। दो घड़ी रात बीतने पर जब सब सो गये हैं, चारों तरफ़ सन्नाटा है, मनोहर बलराज को जगाता है और कहता है—

'अच्छा तो अब राम का नाम लेकर तैयार हो जाओ, डरने या घबराने की कोई बात नहीं। अपने मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं। बेइज्ज़त होकर जीने से मर जाना अच्छा है।'

(प्रेमाश्रम, पृष्ठ २०५)

और फिर यही मनोहर यह देख कर कि उस काम के लिए जिसका

उत्तरदायित्व उस अकेले पर है, सारे-का-सारा गाँव बँधा जा रहा है तो अपने हाथों अपने जीवन की रस्सी काट देता है। क्या उसका यह काम उसके चरित्र को हमारी नज़रों में ऊँचा नहीं कर देता? कौन जानता है कि आये दिन देहात में जो हत्याएँ होती हैं, डाके पड़ते हैं, लड़ाइयाँ की जाती हैं, उनकी तह में इसी प्रकार के ज़ुल्म काम नहीं करते? इन ज़ुल्मों की रोक-थाम अपराधियों को फाँसी की रस्सी पर लटका कर अथवा कालेपानी भेजकर नहीं हो सकती; वरन् उन कारणों को दूर करके ही हो सकती है, जो इन सीधे-साधे देहातियों को जान जैसी प्यारी चीज़ को तुच्छ समझने के लिए विवश कर देते हैं।

'गोदान' में होरी लड़की को बेचने का पाप करता है। दीन-धर्म और मर्यादा पर मर मिटने वाला होरी रूपा जैसी कमसिन लड़की को रामसेवक जैसे अधेड़ व्यक्ति से ब्याह देने को तैयार हो जाता है। लेकिन क्यों? इसलिए कि—

'जीवन के संघर्ष में उसकी सदैव हार हुई, पर उसने कभी हिम्मत न हारी। प्रत्येक हार जैसे उसे भाग्य से लड़ने की शक्ति दे देती थी; मगर अब वह उस अन्तिम दशा को पहुँच गया था, जब उसमें आत्म-विश्वास भी न रहा था कि वह अपने धर्म पर अटल रह सकता।'

(गोदान पृष्ठ ५८८)

एक दूसरे स्थल पर प्रेमचन्द देहातियों की हीनावस्था का करुणा-पूर्ण चित्र खींचते हैं—

'चलते-फिरते थे, काम करते थे, घुटते थे, क्योंकि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गयी हो। जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है, मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो

खलिहानों ही में तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है वह भी दूसरों ही का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उसमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। सारी चेतनाएँ शिथिल हो गयी हैं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आता है निगल जाते हैं, उसी तरह जैसे इंजन कोयला निगल जाता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बग़ैर नाँद में मुँह नहीं डालते; मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिए, स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है, उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है।'

इसलिए—

'चाहे उनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की यह इन्तहा है जब आदमी शर्म और इज्ज़त को भी भूल जाता है।'

(गोदान, पृष्ठ ५९८)

इस अवस्था में, इस करुणाजनक शोचनीय अवस्था में, क्या इन परेशान-हाल देहातियों पर, जिनकी इस दीनदशा का कारण नगर और नगरों की फ़ैशन-परस्तियाँ हैं, उपेक्षा के बदले दया नहीं आती? इस हालत में वह बड़े से बड़ा अपराध भी कर दें तो क्षम्य हैं। दण्ड के भागी यह निरीह देहाती नहीं, बल्कि वे लोग हैं जो उन्हें अपनी और दूसरों की हस्ती को भूल जाने के लिए विवश करते हैं; यह भूल जाने को विवश करते हैं कि वे पशु नहीं, मनुष्य हैं और उनके पहलू में दिल धड़कता है।

देहात की इस नीम-जान लाश से जो जोंकें चिमटी हुई हैं और इसके रक्त की अन्तिम बूँद तक चूस जाना चाहती हैं, प्रेमचन्द उनको

भी नहीं भूले। 'गोदान' के पण्डित दातादीन, झिंगुरी शाह, मँगरू शाह, पटवारी पटेश्वरीलाल और कारिन्दा नोखेराम और 'प्रेमाश्रम' के ग़ौस खाँ, फ़ैजुल्लाह, बिसेसर शाह, थानेदार दयाशंकर इत्यादि इन्हीं जोंकों की विभिन्न जातियाँ हैं। देहातियों के शरीर में रक्त का नाम तक नहीं रहा, वे मृत प्रायः हो गये हैं परन्तु इस बात से उन्हें कोई मतलब नहीं, उन्हें तो जब तक आशा है, चिमटी रहेंगी, लहू चूसती रहेंगी, दया, धर्म, सहानुभूति का उनके यहाँ कोई काम नहीं।

होरी की गाय को, उसका सगा भाई विष देकर कहीं भाग गया है। उसकी अनुपस्थिति में पुलिस तलाशी करना चाहती है। होरी मर्यादा का पाबन्द है, वह नहीं चाहता कि उसके भाई के घर की तलाशी हो और कुल को बट्टा लगे। वह उसका शत्रु ही सही, उसकी वर्षों से सींची हुई आशाओं पर पानी फेर देने वाला ही सही, लेकिन भाई तो उसका ही है, तो क्या उसकी तलाशी से कुल को बट्टा न लगेगा, भाई की इज्ज़त क्या उसकी इज्ज़त नहीं?

पटवारी पटेश्वरी होरी की इस कमज़ोरी से लाभ उठाना चाहते हैं। होरी के घर खाने को अनाज नहीं, उसे रोटी के लाले पड़े हुए हैं इससे उन्हें क्या? होरी के घर को चाहे आग लगे चाहे वह ध्वस्त हो, वे तो इस सुअवसर पर हाथ रँगेंगे। बढ़ कर थानेदार से कहते हैं 'तलाशी लेकर क्या करेंगे हुज़ूर, उसका भाई आपकी ताबेदारी के लिए हाज़िर है।'

दोनों आदमी ज़रा अलग जाकर बातें करने लगे।

'कैसा आदमी है?'

'बहुत ही ग़रीब हज़ूर! भोजन का भी ठिकाना नहीं।'

'सच?'

'हाँ, हज़ूर, ईमान से कहता हूँ।'

'अरे तो क्या एक पचासे का भी डौल नहीं ?'

'कहाँ की बात हजूर ! दस भी मिल जायें तो हज़ार समझिए। पचास तो पचास जन्म में भी मुमकिन नहीं और वह भी तब, जब कोई महाजन खड़ा हो जायगा।'

दारोग़ाजी में दया का सर्वथा अभाव न हुआ था। उन्होंने एक मिनट तक विचार कर के कहा—'तो फिर उसे सताने से क्या फ़ायदा ? मैं ऐसों को नहीं सताता जो स्वयं ही मर रहे हों।'

पटेश्वरी ने देखा, निशाना और आगे पड़ा। बोले—'नहीं हज़ूर, ऐसा न कीजिए, नहीं फिर हम कहाँ जायँगे। हमारे पास दूसरी कौन सी खेती है ?'

'तुम इलाके के पटवारी हो जी, कैसी बातें करते हो।'

'जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं। नहीं पटवारी को कौन पूछता है ?'

'अच्छा जाओ, तीस रुपये दिलवा दो। बीस रुपये हमारे, दस रुपये तुम्हारे।'

'चार मुखिया हैं, इसका तो ख़याल कीजिए।'

'अच्छा आधे आध पर रखो और जल्दी करो।'

पटेश्वरी ने झिंगुरी से कहा, झिंगुरी ने होरी को इशारे से बुलाया। अपने घर ले गये। तीस रुपये गिन कर उसके हवाले किये और एहसान से दबाते हुए बोले—'आज ही काजग लिख देना। तुम्हारा मुँह देख कर रुपया दे रहा हूँ, तुम्हारी भलमंसी पर।'

और होरी तो यह रुपये दे देता परन्तु धनिया ने सब भंडा फोड़ दिया, बोली—

'हमें किसी से उधार नहीं लेना। मैं दमड़ी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने के लिए

पच्चीस रुपए माँगते थे, किसी ने न दिये। आज अँजुरी भर रुपये निकाल कर ठनाठन गिन दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बखरा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं या ग़रीबों का ख़ून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नज़र-नज़राना, घूस-घास, जैसे भी हो, ग़रीबों को लूटो।'

(गोदान, पृष्ठ १८७-१८८)

और ऐसी बीसियों घटनाएँ हैं, जहाँ ये देहाती जोंकें ग़रीब देहातियों का ख़ून चूसती हैं। झिंगुरी शाह शक्कर के कारख़ाने में होरी के एक सौ रुपये हथिया लेता है और बाक़ी के पच्चीस नोखेराम ले लेता है और होरी के घर खाने को दाना तक नहीं। गिरधर मुश्किल से एक आना मुँह में छिपा कर रख लेता है और उसकी ताड़ी पी आता है। ज़रा उसके शब्द सुनिए, कितनी वेदना भरी है—

'झिंगुरिया ने सारे-का-सारा ले लिया, होरी काका। चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का। रोया, गिड़गिड़ाया, पर उस पापी को दया न आयी।'

'रंगभूमि' और 'गोदान' में प्रेमचन्द ने देहात की तबाही का ख़ाका खींचा है। उद्योग-धंधों के इस युग में, कारख़ानादारों के इस दौर में, जब कि हिन्दुस्तान में भी मशीनों की गड़गड़ाहट का शोर सुनायी देने लगा है, प्रेमचन्द देहात की तबाही और बर्बादी का दृश्य देखते हैं। पांडेपुर भी बनारस के पड़ोस में एक छोटा-सा गाँव ही है। इसके विनाश का हाल पढ़कर प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कविता Deserted Village (ऊजड़ गाँव) की स्मृति ताज़ा हो जाती है। 'गोदान' में देहात की जिस तबाही का ज़िक्र किया गया है उसका कारण हमारे समाज की आधुनिक व्यवस्था और उसकी कुरीतियाँ, ख़राबियाँ, ज़मींदारों और

उनके कारिन्दों के अत्याचार और साहूकारों की खून चूसने वाली सरगर्मियाँ हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रेमचन्द की आँखों के सामने सदा तारीकी-ही-तारीकी रही। उन्होंने गिरते, धँसते और विनाश की ओर शीघ्रता से अग्रसर होने वाले गाँव ही देखे। नहीं, उन्होंने आदर्श गाँव का स्वप्न भी देखा और उस स्वप्न की सच्चाई आपको 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर में दृष्टिगोचर होगी।

मायाशंकर के उस भाषण में, जो उसने अपने तिलकोत्सव पर दिया, इस आदर्श की झलक मिलती है। उसे देहातियों की वास्तविक दशा का खूब ज्ञान है, जब ज्ञानशंकर ने उसे बिलायत न जाने दिया था और अपने इलाकों का दौरा करने को कहा तो उसने उनकी वास्तविक दशा का पूरा-पूरा परिचय पा लिया था। उसने देखा कि—

'चारों तरफ़ तबाही छायी हुई है, ऐसा विरला ही कोई घर होगा जिसमें धात के बर्तन दिखायी देते हों। कितने घरों में लोहे के तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोंपड़ों में और कुछ दिखायी ही न देता था—न ओढ़ना, न बिछौना, यहाँ तक कि बहुत से घरों में खाटें तक न थीं। और वे घर ही क्या थे? एक-एक दो-दो छोटी, तंग कोठरियाँ थीं। एक मनुष्यों के लिए, एक पशुओं के लिए। उसी एक कोठरी में खाना, सोना, उठना, बैठना—सब कुछ होता था।'

उसने यह भी देखा कि—

'जो किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे, उनके बदन पर साबित कपड़े भी न थे, उन्हें भी एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। वे भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अच्छे जानवरों के देखने को

आँखें तरस जातीं। जहाँ देखो छोटे-छोटे मरियल, दुर्बल बैल दिखायी देते थे और खेतों में रींगते और चरनियों पर औंघते थे।'

(प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६२३-६२४)

इस व्यापक दरिद्रता और दीनता को देख कर मायाशंकर का कोमल हृदय तड़प कर रह गया था और चाहे दूसरा कोई करे या न करे, उसने अपने कर्तव्य का निर्णय कर लिया था। अपने भाषण में उसने इसकी घोषणा भी कर दी—

"मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दनों पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं। मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूँ जो प्रथा-नियम और समाज-व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ। वे न मेरे आसामी हैं, न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ। वे सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं। आज से वे अपनी जोत के स्वयं ज़मींदार हैं। अब उन्हें मेरे कारिन्दों के अन्याय और मेरी स्वार्थ-भक्ति की यन्त्रणाएँ न सहनी पड़ेंगी। वह इज़ाफ़े, इख़राज, बेगार की विडम्बनाओं से निवृत्त हो गये।

"मेरा अपने समस्त भाइयों से निवेदन है कि वे अपने-अपने हिस्से का सरकारी लगान पूछ लें और वह रक़म खजाने में जमा कर दें। मुझे आशा है कि मेरे समस्त भ्रातृवर्ग आपस में प्रेम से रहेंगे और ज़रा-सी बातों के लिए अदालतों की शरण न लेंगे।"

(प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६२५-६२६)

और इस घोषणा के फलस्वरूप हम प्रेमाश्रम के अन्तिम पृष्ठों में स्वतन्त्र और सम्पन्न लखनपुर की तस्वीर देखते हैं। मायाशंकर अपने दौरे पर हैं। इसी सिलसिले में लखनपुर भी आये हैं। देखते

हैं कि वही लखनपुर, जो तबाही और बर्बादी का मसकिन था, अब स्वर्ग को लजाने वाला बन गया है। वहाँ खूब रौनक और सफ़ाई है। 'प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे। उनमें बड़े-बड़े तख्ते बिछे हुए थे। अधिकांश घरों पर सफ़ेदी हो गयी थी। फूस के झोंपड़े ग़ायब हो गये थे वे, अब सभी घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बँधे दिखायी देते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुआँ और धर्मशाला थी। मायाशंकर सुक्खू चौधरी के मन्दिर पर रुके। वहाँ इस समय बड़ी बहार थी। चबूतरे पर चौधरी बैठे हुए रामायण पढ़ रहे थे और कई स्त्रियाँ बैठी हुई सुन रही थीं। मायाशंकर घोड़े से उतर कर चबूतरे पर जा बैठे। उन्हें देखते ही गाँव वाले अपने काम-धन्धे छोड़कर आ गये, सब ने उन्हें घेर लिया और वे सब की कुशल-क्षेम पूछने लगे।'

गाँव की यह कायापलट उस घोषणा के केवल दो वर्ष बाद हो गयी है। अब तनिक देहातियों की आर्थिक स्थिति का हाल सुनिए और पहली दशा से उसका मिलान कीजिए। कादिर मियाँ, जिन्हें मायाशंकर चाचा कह कर पुकारते हैं, सहर्ष अपनी हालत बयान करते हैं—

'बेटा, और क्या दुआ दें? रोयें-रोयें से तो दुआ निकल रही है। मुन्शी को देखो, पहले २० बीघे का काश्तकार था, १०० रु० लगान देने पड़ते थे। दस बीस साल भर में नज़राने में निकल जाते थे। अब जुमला १० रु० लगान है और नज़राना नहीं लगता। पहले अनाज खलिहान से घर तक न आता था। आपके चपरासी कारिन्दे वहीं गला दबा कर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ

की एक जोड़ी बैल लाये, घर की मरम्मत करायी, सायबान डाला। हाँडियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं। मालगुज़ारी दाखिल करके चुपके से घर चले आते हैं। नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब मन अल्लाह की इबादत में भी लगता है, नहीं तो नमाज़ भी बोझ मालूम होती थी।'

(प्रेमाश्रम, पृ० ६४२)

और यही हालत दुखरन भगत, कल्लू, डपटसिंह और बलराज इत्यादि की है। बलराज के पास तो एक घोड़ा भी है। ज़िला-बोर्ड का सदस्य हो गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ पहले कोई समाचारपत्र का नाम तक न जानता था, वहाँ अब छोटा-सा वाचनालय भी है, अच्छे-अच्छे अखबार भी आते हैं। गाँव वालों की नैतिक उन्नति भी काफ़ी हुई है और बलराज के क़ौल के मुताबिक 'गाँव में अब रामराज है।'

मायाशंकर ने देहातियों की जो दशा स्वयं देखी थी और जो दशा उसने बना दी है, उसमें कितना अन्तर है? यह है देहातियों का वह स्वर्ग जिसके स्वप्न प्रेमचन्द देखते थे।...लेकिन मायाशंकर के वश की यह बात होती तो प्रेमचन्द 'गोदान' न लिखते? प्रेमचन्द स्थिति की यथार्थता समझ गये थे इसीलिए उन्होंने 'गोदान' लिखा।

---

* यह लेख प्रेमचन्द के निधन के बाद प्रकाशित होने वाले हंस के प्रेमचन्द अङ्क के लिए लिखा गया था।

संस्मरण

यशपाल

यशपाल से मेरा परिचय न घना है न पुराना—उस इन्द्रधनुष के परिचय-सा है, जिसका एक सिरा नीचे के बादलों में गुम हो और दूसरा आकाश के विस्तार में खो गया हो और दो-चार बार ही जिसकी झलक मुझे मिली हो।

यशपाल के अतीत को मैं अधिक नहीं जानता, केवल इतना सुना है कि स्व० चन्द्रशेखर आज़ाद की 'सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' से उनका सम्बन्ध था। उन्होंने 'बम की फ़िलासफ़ी' नामक पेम्फ़लेट लिखा था, जिसकी उन दिनों बड़ी चर्चा थी। लाहौर षड्यंत्र तथा गवर्नर की गाड़ी को उड़ाने आदि के मामलों से उनका गहरा सम्बन्ध था। बहुत समय तक वे पुलिस के हाथ नहीं आये। जब आये तो चन्द्रशेखर आज़ाद शहीद हो चुके थे। तब वे इलाहाबाद में पकड़े गये। आठ वर्ष की सज़ा हुई। १९३७ में कांग्रेस ने जब सरकार से सहयोग किया और प्रान्तों में कांग्रेस सरकारें बनीं तो यशपाल भी रिहा हुए। जेल ही

में उनकी शादी प्रकाश जी से हो गयी थी, जो स्वयं क्रान्तिकारिणी रही थीं। अथवा यों कहना चाहिए कि प्रकाश जी ने जेल के अधिकारियों से प्रार्थना कर श्री यशपाल से शादी कर ली थी। अभी यशपाल की सज़ा काफ़ी शेष थी, पर बीमार हो जाने और डाक्टरों के यक्ष्मा घोषित करने से उन्हें छोड़ दिया गया। पंजाब के किस प्रदेश में उन्होंने जन्म लिया, कहाँ पले, पढ़े? क्रान्तिकारी बनने से पहले क्या करते थे? क्रान्तिकारी दल में उनका क्या स्थान था? ये और उनके अतीत की बीसियों बातों का मुझे कोई ज्ञान नहीं। उनका अतीत काफ़ी घटनामय रहा है, भविष्य कैसा रहेगा, इसके सम्बन्ध में भी मैं कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि पुरुष का भाग्य जब देवता नहीं जानते तो मैं मनुष्य क्या जानूँगा कुछ वर्षों के सम्पर्क में उनकी जो झलक मैंने व्यक्तिगत रूप से देखी वही मेरी निधि है और उसी की झलक मैं दूसरों को दिखा सकता हूँ।

यशपाल को पहली बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन में देखा और इस बात के अतिरिक्त कि मैंने क्रान्तिकारी यशपाल को देख लिया है, अन्य किसी बात का प्रभाव मेरे मन पर नहीं रहा। बात यह थी कि सन् १९२८-२९ की सनसनियों का ज़माना बीत चुका था, भगतसिंह को और राजगुरु को फाँसी लगे वर्षों हो गये थे। कांग्रेस असहयोग की नीति को छोड़कर सरकार के साथ सहयोग कर रही थी इसलिए यशपाल उस ज़माने की राजनीति में महत्व खो बैठे थे। यदि मुझे कहीं उन्हें उस ज़माने में देखने का अवसर मिलता जब देश भर में 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' की सरगर्मियों के चरचे थे तो मुझे विश्वास है कि न केवल यशपाल को देखने की प्रबल उत्कंठा मेरे मन में होती, वरन् उस भेंट का गहरा प्रभाव भी मेरे मन पर रहता। १९३८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर

पधारने वाले प्रतिष्ठित सज्जनों में से वे भी एक थे और उनकी अपेक्षा कई अन्य व्यक्तित्व मेरे लिए अधिक महत्त्व रखते थे, इसलिए उस भेंट को मैंने महत्त्व नहीं दिया।

लेकिन शिमला के उस अधिवेशन की अस्पष्ट सी याद आज भी मेरे हृदय में बनी हुई है। हम लोग चोर बाज़ार की नयी-नयी बनी धर्मशाला में ठहरे थे। ऊपर की मंज़िल पर थियेटर अथवा सिनेमा का हाल था। हाल का फ़र्श लकड़ी का था। वहीं हम लोगों के बिस्तर लगे थे। यह जानकर कि क्रान्तिकारी यशपाल भी हाल ही में ठहरे हैं, उन्हें देखने की उत्सुकता हुई। बच्चन, सुमन आदि स्टेज पर बिस्तर जमाये थे, वहीं मैं यशपाल को देखने गया। पहली दृष्टि में मुझे यशपाल में क्रान्तिकारियों-की-सी कोई बात न लगी अथवा यह कहना ठीक होगा कि अपनी कल्पना में क्रान्तिकारियों का जो रूप मैंने बना रखा था, यशपाल उस पर पूरे न उतरे। मैंने क्रान्तिकारी अज्ञेय का जेल से छूटने के बाद लिया गया चित्र देखा था। हृष्ट-पुष्ट देह, लम्बे-लम्बे घुँघराले बाल, गहरी अनुभूति-प्रवण आँखें, नंगे शरीर पर धोती और चादर। यही चित्र 'भग्न दूत' में छपा भी था। उसी के अनुरूप मैंने यशपाल की कल्पना की थी। हृष्ट-पुष्ट देह की बात न सही, लेकिन लम्बे बालों और कुछ बेपरवाही के भाव की आशा तो थी ही। मैंने देखा—बढ़िया सूट पहने हुए मँझले क़द और साँवले रंग का एक युवक, सफ़ाई से कटे-छँटे छोटे बाल, चौड़े खुले-खुले अंग, मोटे ओठ, घनी भवें और पिचके हुए कल्ले। किसी क्रान्तिकारी के बदले मुझे यशपाल किसी बिगड़े हुए ईसाई युवक-से लगे। तब मेरी उत्सुकता का केन्द्र यशपाल के बदले बच्चन अधिक थे। मैं नया-नया उर्दू से हिन्दी में आया था। सरल होने के कारण बच्चन की कविताएँ मुझे बड़ी अच्छी लगती थीं। उनका काव्य था भी अपनी जवानी पर और

इस पार प्रिये तुम हो मधु है,
उस पार न जाने क्या होगा ?

तथा

मिट्टी का तन मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।

आदि बच्चन की कविताएँ मुझे कंठस्थ थीं। इसलिए एक नज़र यशपाल को देखने के बाद मेरा ध्यान बच्चन की ओर मुड़ गया। बिलकुल उसी तरह जैसे अजायबघर में आदमी प्राचीन काल की किसी अनूठी चीज़ को एक नज़र देख कर फिर नये ज़माने के अजायबात को देखने के लिए बढ़ जाय।

लेकिन सभी मेरे जैसे हों, यह बात नहीं। दिल्ली के पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री सुबह शाम यशपाल के पीछे पड़े रहते थे। वे 'हिटलर महान' और 'मुसोलिनी महान' का सृजन करने के बाद उन दिनों भारतीय क्रान्तिकारियों के इतिहास का निर्माण कर रहे थे। लिखे मसौदे का पुलन्दा बगल में दबाये, वे सुबह-सुबह यशपाल को घेर लेते थे। मेरा दुर्भाग्य कि तब मुझे शास्त्री जी की विद्वता की अपेक्षा उनकी पतली-दुबली, सूखे बाँस-सी लम्बी काया, इस पर भी अपने शक्ति-सम्पन्न होने का दम्भ, उनका 'हिस्ट्री' को 'हिश्ट्री' कहना, अपने 'हिश्ट्री ज्ञान' का डंका बारहों घंटे पीटना और अपने सामने श्री जदुनाथ सरकार से लेकर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार तक सभी इतिहासज्ञों को हेय समझना ज्यादा अच्छा लगता था। आज किसी ऐसे आदमी से मिलूँ तो मेरे मन में दया उपज आये और मैं चुप रहूँ, पर तब मुझे उन्हें बनाना भाता था। फक्कड़पने के दिन थे, क्या कहते और क्या बकते हैं, कभी इस पर ध्यान न दिया था। एक सुबह हम 'जाकू' की सैर को गये तो शास्त्री जी से मेरी झड़प हो गयी, छेड़ा पहले उन्होंने था, मैंने उत्तर दिया तो वे झुँझला उठे। स्वयं मज़ाक करके दूसरे के मज़ाक को सहना

हर किसी के बस का है भी नहीं। झगड़ा होते-होते बचा। तनाव को कम करने के लिए मैं हास्य-रस के कुछ शेर सुनाने लगा। तभी शास्त्री जी ने थक कर जँमाई ली। मैंने शेर पढ़ा —

'ऊँट जब उठता है जंगल में जमाही लेकर
याद आ जाता है नक्शा तेरी अँगड़ाई का'

मित्र ठहाके पर ठहाके लगाने लगे। बच्चन, सुमन और दूसरे मित्रों के साथ-साथ यशपाल भी थे। मुझे अच्छी तरह स्मरण है, वे चुपचाप अपने बड़प्पन को लिये-दिये साथ-साथ चलते रहे। बच्चन, सुमन तथा अन्य मित्र हँसी-ठठोली में भाग लेते रहे, पर यशपाल मुस्कराये शायद हों, यद्यपि इसकी याद मुझे नहीं, परन्तु एक बार भी उनके कंठ से ठहाका नहीं निकला।

और शिमला से जब मैं लौटा तो पंजाबियों के सामने हिन्दी कवियों के निजी मतभेद* के प्रदर्शन और उसमें बच्चन के प्रमुख भाग लेने के बावजूद (जिसमें 'ग़ैर' के सामने हिन्दी का सिर ऊँचा देखने की इच्छा

---

*हिन्दी कवि सम्मेलन से एक दिन पहले उर्दू का बड़ा सफल मुशायरा शिमले में हो चुका था। दर्शकों में अधिकांश उसे देखे हुए थे। हमारी बड़ी अभिलाषा थी कि हिन्दी का कवि सम्मेलन उर्दू मुशायरे से बाज़ी मार ले जाय और उन लोगों को जो हिन्दी को कोई भाषा ही नहीं समझते, मुँह की खानी पड़े। पर कवि सम्मेलन के सभापति थे स्नेही जी। उन्होंने अपने वक्तव्य में नये कवियों पर कोई फबती कस दी। नाराज़ होकर निराला जी ने कहा कि हिन्दी का कोई नया कवि यहाँ कविता नहीं पढ़ेगा। उनके अनुकरण में बच्चन ने भी इनकार कर दिया, बल्कि शरारती बच्चे की तरह माइक्रोफ़ोन पर (कवि सम्मेलन ब्राडकास्ट हो रहा था) कविता पढ़ने के बदले अपना विरोध प्रकट करना चाहा। उस समय जब कवियों ने अपना मान-अपमान देखा, दर्शकों ने अपनी असुविधा और निराशा देखी और वह शोर मचा कि खुदा की पनाह। आख़िर मख़ मार कर सब ने कविताएँ पढ़ीं, लेकिन अपने घरों में रेडियो सेट रखे सुनने वालों को बड़ी निराशा हुई।

रखने वाले हर पंजाबी की भाँति मुझे भी दुख पहुँचा) जाकू की वह सैर और उसकी ऊँचाई पर बैठ कर सुनी हुई कविताओं का माधुर्य सदा के लिए मेरे मन पर खुशगवार असर छोड़ गया। यशपाल से भी शिमला में भेंट हुई है, इस बात को मैंने कोई महत्व नहीं दिया।

लेकिन धीरे-धीरे शिमले की वह भेंट, जिसमें हम एक दूसरे से बोले तक नहीं, महत्व प्राप्त कर गयी और जब बारह-तेरह साल बाद गत-वर्ष अलमोड़ा में उनसे मिला तो मैंने उसी भेंट का तार पकड़ा। बात यह हुई कि यशपाल से मिलने पर भी जो परिचय गहरा न हुआ था, वह बिना मिले गहरा होता गया और उसी अनुपात से शिमले की वह भेंट महत्व प्राप्त करती गयी।

शिमला से आने के बाद मैंने सहसा 'विशाल भारत' में एक कहानी देखी। शीर्षक था 'परसराम' और रचयिता का नाम लिखा था—यशपाल। उन दिनों मेरे परिचित ों दो यशपाल थे। लाहौर के यश जी—'हिन्दी मिलाप' के मालिक महाशय खुशहालचन्द के छोटे लड़के—जो उन दिनों अपने भाई श्री रणवीर सिंह 'वीर' के अनुकरण में कहानी लिखने लगे थे और दूसरे दिल्ली के यशपाल—श्री जैनेन्द्र के सहृदय भानजे—जो अपने मामा की हर गतिविधि का व्योरा रखने के साथ स्वयं भी कभी-कभी कहानी लिख लेते थे। लाहौर के यश जी की कहानी 'विशाल भारत' में छपी है, इसका विश्वास न था, क्योंकि लाहौर के यश जी तब बहुत छोटे थे और फिर 'विशाल' भारत में तब हर किसी की चीज़ छपनी भी न थी। जैनेन्द्र 'विशाल भारत' के लेखकों में से थे। ख़याल यही हुआ कि दिल्ली वाले यशपाल की कहानी है और मैं कहानी पढ़ने लगा।

कहानी पंजाब के पहाड़ी प्रदेश की थी। चन्द सतरें पढ़ने पर फिर ख़याल आया कि शायद लाहौर के यश जी की है, पर ज्यों-ज्यों मैं कहानी पढ़ता गया, महसूस करता गया कि यह उन दोनों में से किसी की भी नहीं हो सकती। कहानी के अन्त पर पहुँच कर यह विश्वास और भी पक्का हो गया। दोनों की प्रतिभा से मैं भिज्ञ था। दोनों में से कोई भी ऐसी सुन्दर कहानी लिख सकता है, इसकी कोई सम्भावना न थी। तब सहसा ख़याल आया कि कहीं यह क्रान्तिकारी यशपाल की कहानी न हो? किसी से सुना था कि वे भी कहानी लिखते हैं और लखनऊ से पत्र निकालने जा रहे हैं। कुछ दिन बाद मैंने अनारकली के चौराहे में फ़ज़ल के स्टाल पर 'विप्लव' के दर्शन भी किये। खरीदने की शक्ति तब थी नहीं, 'विप्लव' को देख कर मुझे पूरा विश्वास हो गया कि कहानी क्रान्तिकारी यशपाल ही की है। इस विश्वास के साथ शिमला की वह भेंट विस्मृति के गर्त्त से निकल कर सामने आ गयी।

यदि मैं लाहौर रहता। 'विप्लव' खरीद कर अथवा कहीं से लेकर उसमें यशपाल की चीज़ें पढ़ता तो मैं निश्चय ही उस संक्षिप्त परिचय को घनिष्ट बनाने का प्रयास करता। पर मैं प्रीतनगर चला गया। प्रीतनगर नाम से नगर था, पर उसमें उस समय केवल १८ कोठियाँ बनी थीं और लाहौर छोड़ अटारी की सड़क से भी दस मील दूर मध्य पंजाब के देहात में बन रहा था। वहाँ जाकर मैं साहित्यिक वातावरण से एक दम दूर हो गया।

बहुत दिन बाद, याद नहीं, प्रीतनगर में, लाहौर अथवा दिल्ली में, मैंने यशपाल की एक और कहानी पढ़ी—'ज्ञानदान' और यद्यपि न मुझे कहानी के आधारभूत विचार में नवीनता लगी और न 'परसराम'

सा प्यारापन* पर उससे यशपाल के कहानीकार की शक्तिमत्ता का ज़रूर आभास मिला। उर्दू के प्रसिद्ध कहानीकार मंटो की भाँति यशपाल का कथाकार भी अपने पाठकों को चौंका देना पसन्द करता है। मंटो की इस 'शॉक टेकनिक' का उल्लेख करते हुए उर्दू की एक दूसरी प्रसिद्ध कथाकार 'इस्मत' ने लिखा है कि मंटो को, बातचीत हो अथवा साहित्य, अपने सुनने और पढ़ने वालों को चौंकाना अधिक रुचिकर है। यदि लोग साफ़-सुथरे कपड़े पहने बैठे हों तो मंटो वहाँ इस लिए शरीर पर मिट्टी मले पहुँच जायगा कि लोग उसे देख कर चौंक पड़ें। यशपाल के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता, हालाँकि इसमें संदेह नहीं कि मंटो ही की तरह यशपाल की कई कहानियों में यह चौंका देने वाला गुण वर्त्तमान है। 'ख़ानदान' के बाद 'प्रतिष्ठा का बोझ' और 'धर्मरक्षा' इसके उदाहरण हैं, पर यशपाल केवल चौंकाने के लिए नहीं चौंकाते, उन्होंने अपने नये कहानी संग्रह 'फूलों का कुर्ता' की प्रथम कहानी अथवा पुस्तक की भूमिका में अपनी इन कहानियों के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बदली स्थिति में भी परम्परागत संस्कार से ही नैतिकता और लज्जा की रक्षा करने के प्रयत्न में क्या से क्या हुआ जा रहा है, समाज अपने आदर्शों को ढकने के प्रयास में कितना

ये पंक्तियाँ लिखते-लिखते मैं 'परसराम' को फिर पढ़ गया हूँ यशपाल के संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' की छठी कहानी है—साढ़े छै पृष्ठ की छोटी सी कहानी—आज भी वह मुझे उतनी ही प्यारी लगती है, पहले प्यार और पहले जाम जैसा ही उसका असर है। यशपाल की कई कहानियाँ मुझे प्रिय हैं। आधारभूत विचार की नवीनता और कला के सौष्ठव की दृष्टि से, वे इस कहानी से, जो कहानी न होकर छोटा सा संस्मरण सा है, कहीं सुन्दर हैं, पर इस के प्रभाव को उनकी सुन्दरता [illegible] भी कम नहीं कर पायी।

उघड़ता चला जा रहा है, प्रगतिशील लेखक यही बताना चाहता है और समाज को उसकी बातें बड़ी उघड़ी-उघड़ी लगती हैं।

जो भी हो, इन कहानियों के मुकाबले में कहीं सुन्दर कहानियाँ यशपाल ने लिखी हैं, जिनकी आर्द्रता और समवेदना, जिनके आधारभूत विचारों की यथार्थता और उस यथार्थता को कहानी में रखने के ढंग की नवीनता अपूर्व है। दुर्भाग्य से यशपाल कहानी का नाम रखने में सतर्कता से काम नहीं लेते, इसलिए इस समय जब कई कहानियों के नाम याद आ रहे हैं, अकसर के भूल गये हैं, केवल उनकी स्मृति शेष है। 'पराया सुख', 'राज़', 'उसकी जीत', 'गँडेरी', 'धर्म युद्ध' और 'ज़िम्मेदारी' तो बहुत ही सुन्दर बन पड़ी हैं। 'सन्यास', 'दो मुँह की बात', 'सोमा का साहस', 'दूसरी नाक' आदि कितनी ही कहानियाँ हैं, जो दोबारा पढ़ने पर भी उतना ही आनन्द देती हैं।

लेकिन मैं १९४७ तक 'परसराम' और 'ज्ञान दान' के अतिरिक्त यशपाल की कोई कहानी न पढ़ पाया। प्रीतनगर से मैं सीधा ऑल-इंडिया रेडियो दिल्ली में आया और यद्यपि मेरी आर्थिक दशा उतनी बुरी न रही, मेरा घरेलू जीवन काफ़ी विषम रहा और दफ़्तर के काम और अपने लेखन-कार्य के बाद पढ़ने का समय कम ही मिला। फिर उन दिनों मैं अधिकतर नाटक लिखता था और मेरी आदत है कि नाटक लिखता हूँ तो (यदि पढ़ने का समय हो तो) नाटक ही पढ़ता हूँ। एक-दो बार फ़तेहपुरी की एक दुकान पर यशपाल की पुस्तकें दिखायी दीं, पर ख़रीद न पाया। जिस प्रकार यशपाल कहानी के शीर्षक की चिन्ता नहीं करते उसी प्रकार मुख-पृष्ठ पर ध्यान नहीं देते। आर्ट पेपर और जिल्द की बात तो दूर रही, अच्छा क्वालिटी का सफ़ेद कागज़ भी नहीं लगाते। यशपाल का ख़याल है कि जनता महँगी पुस्तकें नहीं ख़रीद सकती। पर

मेरा दुर्भाग्य है कि मैं अच्छी पुस्तक के साथ अच्छा मुख-पृष्ठ भी चाहता हूँ और फिर मेरा खयाल है कि जो लोग रोज़ सिनेमा देख सकते हैं, वे चाहें तो, महीने में एक-दो महँगी पुस्तकें भी खरीद सकते हैं। दूसरी बातों के अतिरिक्त यह बात भी मेरे मार्ग की बाधा बनी। मैं प्रायः पुस्तकें खरीद कर पढ़ता हूँ और अपने निजी पुस्तकालय में उन्हें अर्जित करता हूँ। यशपाल की पुस्तकें इसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं, जब तक कि उन पर फिर से जिल्द न बँधायी जाय।

दिल्ली में तीन साल बिता कर मैं बम्बई चला गया। आर्थिक कठिनाई न रही, पर जीवन और भी व्यस्त हो गया। तभी 'नया साहित्य' में मैंने यशपाल की एक और कहानी 'साग' पढ़ी। उसका व्यंग्य और तीखापन पूर्व परिचित था। उन्हीं दिनों मैं एक दिन गिरगाम में 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार' किसी काम से गया और यशपाल की जितनी भी पुस्तकें दुकान पर थीं, खरीद लाया।

खरीद लाया पर पढ़ने का अवसर फिर भी न मिला। केवल एक पुस्तक पढ़ पाया 'पार्टी कामरेड'। मेरी आदत है कि जब मैं अपनी कोई चीज़ लिखता हूँ, बीच ही में किसी दूसरे की चीज़ पढ़ने लगता हूँ। यशपाल का सेट नया-नया लाया था, उस समय जाने मैं किसी फ़िल्मी कहानी का सिनारियो लिख रहा था या अपना नाटक, लिखते-लिखते जी कुछ घबराया तो यशपाल के सेट में सबसे छोटी पुस्तक उठा कर पढ़ने लगा। वहीं कुर्सी पर पीठ को पीछे लगाये, टाँगें मेज़ पर टिकाये [illegible] पुस्तक एक ही बार में पढ़ गया। पुस्तक बड़ी नहीं है, पर मैं काम में रत था और उस स्थिति में मेरा सारी की सारी पुस्तक को पढ़ जाना कम से कम उसके सबसे बड़े गुण—मनोरंजकता का तो द्योतक है ही। वहीं बैठे-बैठे मैंने यशपाल को एक लम्बा पत्र 'पार्टी कामरेड' के गठन और उसकी कला की सुन्दरता के सम्बन्ध में लिखा।

शिमला की उस भेंट के बाद यशपाल को यही मेरा पहला पत्र था। यशपाल ने उसका उत्तर भी दिया, पर बम्बई के व्यस्त जीवन में यह पत्र-व्यवहार अधिक दिन न चल सका। यशपाल की कहानियों का सेट भी उसी तरह पड़ा रहा। कुछ नयी किताबें आयीं, रैक की पुरानी किताबें आलमारी में चली गयीं। फिर जब १६४६ में मैंने फ़िल्म की नौकरी छोड़ दी तो मेरी पत्नी दूसरे सामान के साथ पुस्तकें भी लाहौर ले गयी और 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर' गिरगाम बम्बई से खरीदा हुआ यशपाल का वह सेट उस समय तक मेरे हाथ न आया जब तक मैं अपनी बीमारी के छै महीने सेनेटोरियम में काट कर, पंचगनी ही में बाहर एक बंगले में न आ गया। समय काफ़ी था। दिन-रात वर्षा होती थी। लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त और कोई काम न था। लाहौर में और तो बहुत कुछ रह गया, पर पुस्तकें बच गयीं। स्थान के तंगी के कारण भाई साहब ने उन्हें जालन्धर पहुँचा दिया था, वहाँ से वे वापस बम्बई हो ती हुई पंचगनी पहुँचीं। यशपाल की कहानियों के जितने संग्रह उस सेट में थे, वे सब मैंने एक साथ पढ़ डाले।

हिन्दी कथा साहित्य में, जैनेन्द्र के पथ-भ्रान्त होने के साथ कई भावी कथाकार अँधेरे में टामकटोये मारने लगे थे। प्रेमचन्द जब जीवित थे तो कथाकारों की एक अच्छी-खासी संख्या कहानी साहित्य का भंडार भर रही थी। तब उर्दू के पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दी कहानियों के अनुवाद रहते थे। लेकिन जब प्रचार कुशल जैनेन्द्र अपनी अतुल प्रतिभा किन्तु परिमित निधि के साथ बरबस प्रेमचन्द के आसन पर आ विराजे तो कई कथाकार अपना मार्ग छोड़ उनका अनुकरण करने लगे। परन्तु जैनेन्द्र तो कहानी का अंचल छोड़ वर्धा के विचारकों के पथ पर बढ़ गये और हिन्दी के कथाकार अनायास भटक गये।

यशपाल इस बीच में धीरे-धीरे अपने पाँव जमाते गये और समय आया कि जैनेन्द्र के बाद जो स्थान रिक्त हो गया था, उसे उन्होंने भर दिया। अब फिर हिन्दी कहानी में बढ़ती के लक्षण दृष्टि-गोचर हो रहे हैं और वह खाई भरती-सी दिखायी दे रही है, जो जैनेन्द्र के पथ-भ्रान्त होने से हिन्दी कथा-साहित्य की राह में अनायास आ गयी थी।

अज्ञेय इस बीच में अवश्य लिखते रहे, पर अज्ञेय के लिखने की गति कभी तेज़ नहीं रही। दिनों तेवर चढ़ाये मौन रहकर जैसे वे कभी अनायास बड़े प्यारे ढंग से मुस्कराने लगते हैं, इसी प्रकार महीनों की चुप्पी के बाद उनकी लेखनी कभी कोई सुन्दर कहानी सृजती है। फिर अज्ञेय की कहानियाँ सर्व साधारण के लिए ज्ञेय भी नहीं होतीं। आलोचक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन पाठकों के जिस 'द्रविड़ प्राणायाम' के प्रति सहानुभूति रखता है, कहानीकार अज्ञेय नहीं, इसलिए प्रेमचन्द और जैनेन्द्र अपनी कृतियों की लोकप्रियता और बोध गम्यता के कारण साहित्य में जो गति पैदा कर सके और जिस प्रकार दूसरों को साथ मिला सके, अज्ञेय नहीं कर सके।

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद हिन्दी में लोकप्रिय सामाजिक कहानियों का जो अभाव मुझे हिन्दी के पाठक की हैसियत से खटकता था, वह यशपाल की कहानियों को पढ़ कर बड़ी हद तक दूर हो गया। देश का विभाजन हो जाने से लाहौर हमारे लिए पराया हो गया था। मित्रों की सन्निकटता के कारण बीमारी के बाद स्वस्थ होकर हम इलाहाबाद बसने की सोच रहे थे। मेरे मन में कई बार यह विचार उठता था कि इलाहाबाद रहे तो लखनऊ जाने का अवसर अवश्य मिलेगा। लखनऊ जाऊँगा तो यशपाल से अवश्य मिलूँगा। शिमला के उस हलके से

परिचय पर समय की जो धूल पड़ गयी है, उसे झाड़ कर कुछ गहरा बनाऊँगा।

लेकिन जब मैं लगभग डेढ़ साल पंचगनी में गुज़ार कर और फ़िल्म में कमाया बारह-पन्द्रह हज़ार रुपया ठिकाने लगा कर, इलाहाबाद आया तो ऐसे संघर्ष में रत हो गया जैसा पहले जीवन में कभी नहीं किया। यों तो मेरा सारे का सारा जीवन संघर्षमय रहा है, लेकिन एक ही बरस में जैसा एकाग्र संघर्ष मुझे इलाहाबाद आते ही करना पड़ा, वैसा कभी नहीं किया। यही कारण था कि दो बार लखनऊ जाने पर भी मैं यशपाल से न मिल सका। फिर जब एक दिन लखनऊ में समय निकाल कर उनसे मिलने चला तो मालूम हुआ कि सरकार ने उन्हें नज़रबन्द कर दिया है।

पिछले वर्ष* गर्मी का एक डेढ़ महीना काटने के लिए मैंने अलमोड़ा जाने का निर्णय किया। रास्ते में दो दिन काम से लखनऊ रुका। यशपाल के सम्बन्ध में पता चलाया तो मालूम हुआ कि सरकार ने छोड़ तो दिया है पर लखनऊ से निकाल दिया है और वे अपने निष्कासन का समय भुवाली में काट रहे हैं।

भुवाली अलमोड़ा के मार्ग ही में है। यह खबर सुन कर मुझे प्रसन्नता हुई। सोचा कि अलमोड़ा में रहने-खाने का प्रबन्ध हो जाय तो फिर एक दिन आकर यशपाल से भी पुराने परिचय के तार नये सिरे से जोड़े जायँ।

अलमोड़ा मैं पन्त जी के कारण गया था। उनके अतिरिक्त मैं वहाँ किसी को न जानता था। 'देवदार होटल' की एक छोटीसी कॉटेज,

* सन् १६४६ में

जो एक बड़ी सुरम्य घाटी के किनारे बनी थी, पंत जी ने मेरे लिए तय कर रखी थी। नौकर भी चन्द दिन में मिल गया। श्री देव दा पन्त, श्री हरीश जोशी, श्री गणेश, श्री धर्मचन्द और अन्य बंधुओं के स्नेह में अलमोड़े का प्रवास सुखद लगने लगा। इतने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छुट्टियाँ हो गयीं और 'इपटा' के कुछ कार्यकर्ता तथा लखनऊ और ग्वालियर के कुछ युवक भी अलमोड़ा आ पहुँचे, जिन में लखनऊ की स्टूडेण्ट यूनियन के मन्त्री भी थे। उन्हीं से मैंने एक दिन भुवाली चल कर यशपाल से मिलने की इच्छा प्रकट की। हम अभी प्रोग्राम बना ही रहे थे कि एक सुबह एक युवक ताराचन्द ने आकर बताया कि यशपाल अलमोड़ा पधारे हैं और डाक बंगले में ठहरे हैं। मैं उसी वक्त डाक बंगले को चलने के लिए तैयार हुआ, पर मालूम हुआ कि वे देव दा से मिलने गये हुए हैं। वापसी पर वे मुझे मिलने आयेंगे। उन्हें मेरे यहाँ होने का पता है और वे देव दा से मिलकर मेरे ही यहाँ आयेंगे।

देव दा, श्री सुमित्रानन्दन पंत के बड़े भाई हैं। पूरा नाम देवी-दत्त पंत है। एडवोकेट हैं। अलमोड़ा कांग्रेस कमेटी के प्रधान हैं और अब तो भारत की पार्लियामेंट के सदस्य भी हैं। पार्लियामेंट में चोर-बाज़ारी की समस्या पर बहस के मध्य अपने भाषण में उन्होंने सौंदर्य की चोर बाज़ारी का जो उल्लेख किया, वह उनके स्वभाव की चौंका देने वाली प्रवृत्ति, दलीलों की मौलिकता और प्रति-उत्पन्न-मति का द्योतक है। उनकी बातों में उलझे यशपाल शीघ्र न लौट सकेंगे, इस बात का मुझे पूरा विश्वास था। मेरा अनुमान ठीक ही निकला। क्योंकि यशपाल यद्यपि उनके पास से सीधे मेरे पास आये थे तो भी एक बजने को हो आया था।

मेरी कॉटेज बड़ी सड़क से नीचे थी। सड़क से जब कोई आदमी

मेरी कॉटेज को उतरता था तो अपनी खिड़की से मैं पहले ही जान जाता था। खाना खाकर लेटा ही था कि मैंने सीढ़ियों पर पाँवों की चाप सुनी और ताराचन्द को मार्ग दिखाते पाया। मैं उठ कर बैठ गया। ताराचन्द के पीछे यशपाल दुर्गा भाभी* के साथ आ रहे थे। इन दस-बारह वर्षों में यशपाल का बड़प्पन कुछ और बढ़ गया था। उनके बाल पक गये थे। घनी काली भवें श्वेत हो गयी थीं और चेहरे पर समय ने रेखाएँ अंकित कर दी थीं। दाँत उन दिनों वे निकलवा रहे थे, इसलिए कल्ले उनके धँसे हुए थे और जबड़े की हड्डियाँ उभरी हुई थीं। लेरिंजाइटिस अथवा उसी प्रकार का कोई गले का रोग उन्हें था। स्वर बड़ा भारी था, जो उनके व्यक्तित्व के बड़प्पन को और भी बढ़ाता था। वेश-भूषा पूर्ववत् साहबी थी। मैं दरवाज़े के बाहर निकल आया। वे खुल कर मुझसे गले मिले। फिर उन्होंने दुर्गा भाभी से मेरा परिचय कराया। मैंने नौकर से चाय बनाने को कहा और हम अन्दर आ बैठे। पहली बात जो हमने की वह शिमला के कवि सम्मेलन के सम्बन्ध में थी। यशपाल भी उसे भूले न थे। जाकू की सैर, हमारा हास-हुलास और चन्द्रशेखर शास्त्री के साथ मेरी भोड़ की सब बातें उन्हें याद थीं।

यशपाल भुवाली से पैदल पहाड़ी प्रदेश की सैर करते आ रहे थे। अलमोड़ा से तेरह-चौदह मील दूर, सेबों के बाग़ के किसी जागीरदार मालिक के यहाँ दो दिन का आतिथ्य स्वीकार कर और वहाँ के अतुल शिष्टाचार और सीमित मानसिक परिधि से घबराकर निकल भागे थे। इतने बड़े जागीरदार के अतिथि कुलियों के साथ पैदल ही मीलों की

*लाहौर षड्यन्त्र केस के शहीद श्री भगवतीचरण वर्मा की पत्नी।

मंज़िल मारते पधारे हैं, यह देख कर उन लोगों को जो आश्चर्य और उत्कंठा हुई, उसका उल्लेख मज़ा ले-ले कर यशपाल ने किया। दुर्गा-भाभी को शिकायत थी कि ये महाशय जहाँ बैठते हैं, अपना वाद-विवाद ले बैठते हैं। भला वे जागीरदार क्या समझें मार्क्स और उसके सिद्धान्तों को !

बातचीत में चाय आ गयी। यद्यपि चाय का समय न था, लेकिन गर्म चाय के प्याले को यशपाल कभी नहीं ठुकराते। चाय के मध्य मैंने पूछा कि अलमोड़ा कितने दिन रहने का इरादा है। यशपाल ने कहा कि अलमोड़ा उन्हें पसन्द आया है, यदि रहने का कोई प्रबन्ध हो जाय तो वे डेढ़-दो महीने वहीं काटेंगे। मैंने कहा कि यदि एक छोटे से कमरे में आपको असुविधा न हो तो जब तक मकान का प्रबन्ध नहीं हो जाता, आप यहाँ दूसरे कमरे में आ जाइए।

यशपाल ने उठ कर कमरा देखा। पहले उसमें फर्श नहीं था। चूँकि पन्द्रह-बीस दिन बाद कौशल्या — मेरी पत्नी — बच्चे को लेकर आने वाली थी, इसलिए मालिक मकान से कह कर मैंने उसमें फ़र्श लगवा दिया था। कमरा काफ़ी छोटा था, पर यशपाल ने कहा कि ठीक है और यदि मुझे कोई असुविधा नहीं तो उन्हें भी नहीं। फिर उन्हें कौशल्या के आने का खयाल आया, पर मैंने कहा कि अव्वल तो कौशल्या बीस-एक दिन बाद आयेगी, तब तक आपको मकान मिल जायगा और यदि न भी मिला तो आप दोनों उस कमरे में रह लीजिएगा और हम दोनों इस कमरे में रह लेंगे, और यशपाल संतुष्ट हो गये। मैं तो चाहता था कि वे उसी शाम उठ आयें, पर यशपाल सब से पहले बाज़ार की सैर करना चाहते थे, इसलिए तय हुआ कि रात डाक बंगले ही में गुज़ारेंगे, दूसरे दिन सुबह ही मेरे यहाँ आ जायेंगे।

यशपाल सात दिन मेरे साथ रहे। इस बीच में देव दा ने 'शक्ति-कार्यालय' का एक कमरा उनके लिए खाली करा दिया और यशपाल वहाँ उठ गये। 'शक्ति कार्यालय' मेरी कॉटेज से आध-एक फ़रलांग ही के अंतर पर था, इसलिए उन सात दिनों के निकट सहचर्य के बाद भी मैं जब तक अलमोड़ा रहा, यशपाल से रोज़ साँझ-सबेरे, एक न एक बार भेंट होती रही। अलमोड़ा के बाद भी मुझे दो-तीन बार उनसे लखनऊ में मिलने का अवसर मिला और मुझे यशपाल को कुछ निकट से देखने का संयोग प्राप्त हुआ।

यशपाल में सबसे पहले जो बात मुझे अच्छी लगी और जिससे मुझे ईर्ष्या भी हुई, वह उनका लिखने का ढंग है। यशपाल दिन भर सैर-सपाटा और गप-शप करके रात-रात भर लिख सकते हैं। मैं जीवन में पहले भी अधिक सैर-सपाटा, इच्छा रहने के बावजूद, नहीं कर पाया और अब तो शरीर में उतनी शक्ति ही नहीं। यशपाल को सैर-सपाटे का बेहद शौक है। अज्ञेय की भाँति वे भी काफ़ी पैदल घूमे हैं। उनकी कई कहानियां और लेख इस बात के साक्षी हैं। अलमोड़ा में आते ही उन्होंने सारे बाज़ार अच्छी तरह देख डाले। दुर्गा भाभी को उनसे भी अधिक घूमने का शौक है। कई बार मैंने देखा कि यशपाल थके हैं, पर दुर्गा भाभी तैयार हुईं तो वे भी सैनिक झोला कंधे पर लेकर तैयार हो गये। मैं इधर वर्षों से सैर-सपाटे का आनन्द नहीं ले पाया और जब यशपाल अपने मित्रों के संग घूमते रहे, मैं अपनी कॉटेज में बन्द लिखता-पढ़ता रहा।

लेकिन दो बार तो उन्होंने मुझे भी साथ घसीट ही लिया। एक बार हम सब सितोला की पिकनिक को गये। सितोला की पहाड़ी देवदार होटल से सात-आठ मील दूर है। वहीं खाना-वाना रहा। खूब

आनन्द आया, लेकिन मैं बेहद थक गया और फिर दूरी और चढ़ाई की सैर पर न जाने का प्रण करके अपने कॉटेज में पड़ा रहा।

एक रात बाज़ार की काफ़ी सैर करके हम लौटे तो चाँद निकल आया था। यशपाल ने तब देवदार होटल के बहुत ऊपर, नीचे से दिखायी पड़ने वाली कैंटोन्मेंट के देवदारों की पंक्ति को देखने का प्रस्ताव किया। साढ़े नौ बज चुके थे। साधारणतः उस समय मुझे सो जाना चाहिए। लेकिन यशपाल ने साथ घसीट लिया। भरी चाँदनी में गगनचुम्बी देवदारों की छाया में कैंटोन्मेंट की एकाकी सड़कों पर घूमने में जो आनन्द आया वह अकथ्य है। ऊपर जाकर हम गिरजे के एक ओर बैठ गये, चाँदनी में गिरजा किसी खोये हुए स्वप्न-महल-सा दिखायी दे रहा था और नीचे घाटी और देवदार के पेड़, हलकी-हलकी हवा की सरसराहट और चाँद......मैं उतनी रात गये शायद कभी घर से न निकलता। कैंटोन्मेंट की उन सड़कों, वीथियों और देवदार की उन पंक्तियों में चाँदनी का जो दृश्य मैंने देखा उसके लिए मैं यशपाल का आभारी हूँ।

यशपाल प्रायः दो एक बैठकों में ही चीज़ लिख लेते हैं, पर वे लिखे को वेद-वाक्य नहीं समझते। मेरी तरह बार-बार काँट-छाँट भी नहीं करते, पर जैनेन्द्र की तरह उसे अन्तिम भी नहीं समझते। दूसरी बार वे लिखी चीज़ को देखते हैं तो उसे काट-छाँट भी देते हैं।

लोगों को यशपाल के अहं से शिकायत है। मैं ने पंचगनी में ही प्रयाग के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन (१९४७) के सम्बन्ध में 'रहबर'*

---

* उर्दू-हिन्दी के प्रसिद्ध कथा लेखक श्री हंसराज रहबर।

का रिपोर्ताज़ पढ़ा था, जिसमें उन्होंने यशपाल के अहं की ओर इशारा किया है कि यशपाल को अपने सिवा कोई कथा लेखक अच्छा नहीं लगता। न जाने क्यों, मैं अपने में इस प्रकार के अहं का सर्वथा अभाव पाता हूँ। कृष्ण, बेदी, मंटो, बलवंत सिंह, जैनेन्द्र, अज्ञेय यशपाल—विभिन्न कथाकारों की लेखनी का रसास्वादन कर लेता हूँ। इनमें से प्रत्येक लेखक की कई कहानियाँ हैं जो मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। हीन-भाव के कारण ऐसा हो, यह बात नहीं। मैं न अपने को इनमें से किसी से हीन समझता हूँ न किसी की शैली का असर लेता हूँ, लेकिन इसके बावजूद जब कोई चीज़ मुझे भा जाती है तो वह चाहे शत्रु की ही क्यों न हो, उस का उल्लेख किये बिना मुझ से रहा नहीं जाता। अलमोड़ा में यशपाल मेरे यहाँ ठहरे तो मुझे 'रहबर' के लेख की याद आ गयी। मैं ने तय कर लिया कि मैं अपनी कहानियों के बारे में उनसे बिलकुल बात न करूँगा। लेकिन कौशल्या ने तब प्रकाशन का काम आरम्भ कर दिया था और पहली पुस्तक 'पिंजरा' छापी थी, जिसका पहला संस्करण 'सामयिक-साहित्य सदन' लाहौर से हुआ था और कई वर्षों से अप्राप्य था। उस पुस्तक की दो प्रतियाँ कौशल्या ने मुझे अलमोड़ा भेजी थीं। यशपाल ने 'पिंजरा' देखकर उसे पढ़ने की इच्छा प्रकट की। यह भी कहा कि दुर्भाग्य से उन्होंने मेरी कोई भी कहानी नहीं पढ़ी। मैंने 'पिंजरा' उन्हें भेंट किया और कहा कि यद्यपि इसमें मेरी दस-बारह साल पुरानी कहानियाँ संकलित हैं, पर कुछ बहुत अच्छी हैं। यशपाल ने पुस्तक सधन्यवाद लेली और कहा कि वे रात को सोते समय कुछ कहानियाँ पढ़ेंगे।

यशपाल पुस्तक अपने कमरे में रख कर दुर्गा भाभी के साथ सैर को चले गये तो मैंने कौशल्या को पत्र लिखा कि वह 'भारती-

भंडार' से मेरा उपन्यास 'गिरती दीवारें' और मेरे सांकेतिक नाटकों का संग्रह 'चरवाहे' खरीद कर भेज दे, क्योंकि मैं दोनों पुस्तकें यशपाल को भेंट करना चाहता हूँ।

पुस्तकें दस-बारह दिन बाद आ गयीं, पर मैं उन्हें भेंट न कर सका। चुपचाप उन्हें अपने पास रखे रहा और वापसी पर जब रानीखेत रुका और वहाँ रोडवेज के श्री जोशी से भेंट हुई और उन्होंने 'गिरती दीवारें' पढ़ने की बड़ी इच्छा प्रगट की तो मैंने दोनों पुस्तकें उन्हें बेच दीं।

हुआ यह कि जो पुस्तक मैं ने यशपाल को भेंट की थी, वह उसी तरह बे-पढ़े मुझे एक कोने में पड़ी मिली। यशपाल ने उसमें शायद एक दो कहानियाँ पढ़ी थीं, फिर शायद मन ही मन अपनी कहानियों से उनकी तुलना की और उन्हें सेण्टीमेंटल कह कर एक ओर रख दिया। 'पिंजरा' और 'डाची'—उस संग्रह की दो कहानियाँ बड़ी लोक-प्रिय हुई थीं, पर यशपाल ने उनके बारे में भी कोई राय न दी।... इस बात के बावजूद शायद मैं उन्हें 'गिरती दीवारें' भेंट करता, लेकिन बातों-बातों में उन्होंने हिन्दी के प्रत्येक उपन्यास की आलोचना की—'शेखर' 'सन्यासी' 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' 'चित्रलेखा'...उन्हें कोई भी उपन्यास पसन्द न था। 'चित्रलेखा' को मैं भगवती बाबू का उत्कृष्ट उपन्यास मानता हूँ। यशपाल ने मुझे बताया कि 'चित्रलेखा' अनातोले फ्रांस के उपन्यास 'थाया' (या थाइस—जो भी उच्चारण हो) का चरबा है। उन्होंने मुझे 'थाया' पढ़ने को भी दिया। पढ़कर 'चित्रलेखा' का महत्व मेरी आँखों में और भी बढ़ गया। क्योंकि आधार-भूत विचार में चाहे थोड़ी बहुत समानता हो, जिसे भगवती बाबू ने भूमिका में मान भी लिया है, वरना दोनों उपन्यासों में बड़ा भारी अंतर है और मुझे 'चित्रलेखा' 'थाया' से बेहतर लगा। कौशल्या ने 'गिरती दीवारें' और 'चरवाहे' लीडर प्रेस से खरीद कर भिजवायी थीं, क्योंकि मैं लेखक की

छः प्रतियाँ (जो भारती भंडार वाले बड़ी कृपा पूर्वक देते हैं) कब की बाँट चुका था, इसलिए पुस्तकें खरीद कर ऐसे साहित्यकार को देना जो उन्हें बिना पढ़े एक कोने में फेंक दे मुझे गवारा न हुआ। और मैं ने उन्हें बेच दिया।

[बाद में जब यशपाल से मेरी काफ़ी बेतकल्लुफ़ी हो गयी। मैं कई बार लखनऊ गया और वे इलाहाबाद मेरे यहाँ आकर रहे और मैंने बड़ा मज़ा लेकर यह बात बतायी तो उन्होंने बड़ा बुरा माना और कौशल्या से ज़बरदस्ती 'गिरती दीवारें' लेकर उसे पढ़ा।]

सो अहं तो यशपाल में है। लेकिन पहली बात तो यह है कि जैनेन्द्र से लेकर सत्येन्द्र (शरत) तक अहं हिन्दी के हर लेखक में है। हिन्दी का प्रत्येक लेखक कदाचित परम्परा के कारण थर्ड-रेट सी चीज़ लिख कर भी अपने आपको स्रष्टा मान लेता है......"आप आज कल हिन्दी को क्या दे रहे हैं?" "मैंने हिन्दी को तीन नयी कहानियाँ दी हैं!" आदि वाक्य साधारणतः सुनने में आते हैं। फिर अपने बराबर किसी दूसरे को न समझना लेखकों की साधारण दुर्बलता है। स्वयं 'रहबर' साहब, जिन्हें यशपाल के अहं से शिकायत है, अपने सामने किसी दूसरे को नहीं गिनते। हिन्दी के 'महान' लेखकों को मैंने अनायास अपने से छोटे लेखकों का अपमान करते देखा है।

कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि लेखक, जो अपने आपको मनोविज्ञान के पंडित समझते हैं, क्या इस ज़रा से तथ्य को नहीं समझ सकते कि दूसरे के पास भी दिल है और उस में खुदी की नन्हीं सी क़िन्दील टिमटिमाती है* और वह क़िन्दील तिलमिला कर कभी

*इनमें हर शख्स के सीने के किसी गोशे में
एक दुल्हन सी बनी बैठी है
टिमटिमाती हुई नन्हीं सी खुदी की क़िन्दील
राशिद—

ज्वाला बन सकती है, जिसके प्रकाश से स्वयं उनकी आँखें चुँधिया जायँ! दूसरों से अपने अहं की रक्षा चाहते हुए वे क्यों दूसरे के अहं की रक्षा नहीं कर सकते? मैंने ऐसे महान हिन्दी लेखकों को देखा है जो बड़े नेताओं, सेठों अथवा अफ़सरों के दरबारों में और ही होते हैं और अपने साथी लेखकों तथा पाठकों के सामने और! यशपाल को मैंने ऐसा नहीं पाया।

स्नॉब (Snob) के लिए वे स्नॉब अवश्य हैं, पर अपने साधारण पाठक तथा साधारण लेखक के लिए सरल हैं। उनका अहं अपनी कला के प्रति उनके विश्वास का प्रतीक है और उनका अक्खड़पन दूसरों के अहं से अपनी रक्षा करने का साधन! पर अपनी कला में विश्वास रखने के साथ ही साथ यह कहीं अच्छा होता यदि वे अपने अन्य साथियों की कला का भी रसास्वादन कर सकते। लेकिन यह हानि उनके साथियों की नहीं, उनकी अपनी है।

यशपाल स्नॉब के साथ स्नॉब हैं। और उनकी स्नॉबरी के कई किस्से मुझे याद हैं।—

● भुवनेश्वर अपने ज़माने में खासे स्नॉब रहे हैं। एक बार वे यशपाल से हज़रतगंज में मिल गये। यशपाल सिगरेट खरीद रहे थे।

"बोर्नियो!" भुवनेश्वर ने आश्चर्य प्रकट करते हुए और आँखें चढ़ाते हुए कहा, "हूँ—!"

"हाँ—!"

"कम्यूनिस्ट और हिन्दी लेखक और बोर्नियो के सिगरेट!" भुवनेश्वर ने अँग्रेजी में कहा, "आई-सी-एस वाले भी इतने मँहगे सिगरेट नहीं पी पाते।"

"आई-सी-एस वाले किसी के नौकर होते हैं, जब कि मैं मालिक हूँ।" यशपाल ने उसी ऊँचाई से उत्तर दिया।

● कान्तिचन्द्र सोनरिक्सा नये-नये डिप्टी कलक्टर हुए थे। सिर पर टेढ़ी टोपी और हाथ में ५५५ का डिब्बा लिये घूमा करते थे। एक दिन वे यशपाल से 'कॉफ़ी हाउस' में मिल गये। और उन्होंने डिब्बा आगे बढ़ा दिया।"

"Have a Smoke "

"नहीं मैं यह नहीं पीता।

"It is 555।

"मैं ५५५ नहीं पीता," यशपाल ने कहा, और जेब से पाउच निकाल कर वे अपना सिगरेट बनाने लगे।

● एक बार राम विलास शर्मा और अज्ञेय इकट्ठे यशपाल से मिलने आये। राम विलास ने कहा, "देखो यार मैं सुबह से इनके साथ हूँ, पर यह एक शब्द भी नहीं बोले। तुम इन्हें बुलवा दो तो जानें।"

"Do you think, I am so much in love with his Voice ." यशपाल ने उत्तर दिया।

और ऐसी बीसियों बातें हैं। लेकिन यह भी तय है कि इसका पता उनके साथ काफ़ी दिन तक रहने के बाद ही लगता है कि साधारण लोगों के साथ वे कभी स्नॉबरी से काम नहीं लेते और बड़ी सरलता से उनके साथ घुल-मिल जाते हैं।

यशपाल अधिक बातचीत नहीं करते। इधर तो गले की बीमारी के कारण कम बोलते हैं, लेकिन उनकी बात-चीत काफ़ी रोचक और व्यंग्यात्मक होती है। विनोदप्रियता उनमें बहुत है और जिसे अँग्रेज़ी में टखना खींचना कहते हैं, वह उनके स्वभाव का आवश्यक अंग है। कई बार दूसरा व्यक्ति, यदि उसमें मज़ाक सहने की शक्ति न हो तो तिलमिला भी जाता है।

● यशपाल जेल से छूटे थे। एक बड़े कवि उनके मित्र हैं। उनके घर दो दिन के लिए गये तो मित्र ने अपनी नयी कविताएँ सुनायीं। कवि-पत्नी ज़रा अँग्रेज़ी-दाँ हैं और अँग्रेज़ी अदब-आदाब में विश्वास रखती हैं, कुछ वाक्य स्वभाव वश बोलती रहती हैं। पति ने कविताएँ समाप्त कीं तो पत्नी चहकीं, "Are'nt they lovely ?"

यशपाल चुप रहे। कविताएँ उन्हें बहुत अच्छी न लगी थीं। उत्तर की न उन्होंने वांछा की न यशपाल ने दिया।

खाने की मेज़ पर हेरिंग्ज (छोटी मछली) का डिब्बा खुला। यशपाल को प्लेट देते हुए कवि-पत्नी ने फिर वही वाक्य दोहराया, "Arent' they lovely ?"

"Just like your husbands poems !" यशपाल ने उत्तर दिया।

● पढ़ी-लिखी लड़कियों में एक बार उन्होंने कहा, "मिरचें और पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ एक जैसी होती हैं। आदमी पाना भी चाहता है और 'सी' 'सी' भी करता है।

● एक बार उनके एक मित्र की पत्नी अपने पति के साथ लखनऊ आयीं। बरसात के दिन थे। बाहर गयीं तो भीग गयीं। आकर उन्होंने रानी (मिसेज़ यशपाल) की साड़ी पहनी और ड्राइंग रूम में आ बैठीं। क़द-बुत से वे मिसेज़ यशपाल सरीखी हैं। उनकी साड़ी पहने वे सुस्ता रही थीं कि यशपाल कहीं बाहर से आये। वे चहकीं :

"Am I not looking like Rani ?"

"Am I not looking like Rajah ?" यशपाल ने कहा। और वे चिल्लायीं—

"Oh, you are horrible !"

लेकिन इस सब अहं और स्नॉबरी के बावजूद वे कितने बड़े तमाशाई

हैं, इसे वे ही लोग जान सकते हैं, जिन्होंने उनके मुँह से यह सुना हो कि उन्होंने मित्र बन्धुओं को कैसे अपनी कहानी सुनायी।

यशपाल जीवन को जीने में विश्वास रखते हैं। खाने-पीने और जीवन को ढंग से जीने में उनका विश्वास है। बढ़िया सूट-बूट के साथ वे नव्वे-सौ का शू पहनना चाहते हैं, रेफ्रिजिएटर में रखे पेय का आनन्द उठाना चाहते हैं और अधिक से अधिक खर्च करना चाहते हैं। इसका एक कारण तो वह ग़रीबी और अभाव हो सकता है जिसमें उनका बचपन और जवानी का अधिकांश समय बीता और दूसरा नास्तिकता तथा आवागमन के दर्शन में उनका अविश्वास! वे इसी जीवन में विश्वास रखते हैं और दूसरे जीवन की चिन्ता में इसे बिगाड़ने के बदले इसे ही बनाना चाहते हैं। यह बात कि कौसानी में जिस जगह बैठ कर महात्मा गाँधी को अनासक्तियोग लिखने का विचार आया वहीं यशपाल को आसक्तियोग लिखने की सूझी, जहाँ उनके प्रचंड अहं की ओर संकेत करती है, वहाँ उस अंतर की ओर भी इंगित करती है जो महात्मा गाँधी और यशपाल की धारणाओं में है।

लेकिन उत्तरोत्तर अच्छा खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और बेहतर जीवन बिताने की वांछा रहने के बावजूद यशपाल के स्वभाव में अभिजात-वर्गीय अहं नहीं। उनका अहं उस लेखक का अहं नहीं जो रिक्शा में बैठे हुए नाक पर रूमाल रख ले कि कहीं साइकिल चलाते मज़दूर के पसीने की गंध हवा से उड़ कर उसके नथनों को न छू ले या अपने गाँव के किसी ज़रूरत मन्द छात्र को कई बार की मुलाकात के बावजूद पहचानने से इनकार कर दे या फ़र्स्ट क्लास में सफ़र करे और साथ में एक साधारण सा कम्बल बिस्तरे के रूप में रखने की रियाकारी करे। मैंने यशपाल को इस अहं के बावजूद कि उन्हें किसी दूसरे कथाकार की चीज़

अपने मुकाबले में अच्छी नहीं लगती, खुले स्वभाव और सरल प्रकृति का पाया है। अलमोड़ा में डेढ़ महीने के प्रवास में 'याद' रखने वाली चीज़ यशपाल का संसर्ग है शेष अनुभव तो खासे कटु हैं।

मैंने अलमोड़ा में यशपाल का उपन्यास 'मनुष्य के रूप' पढ़ा और अलमोड़ा से आकर 'दिव्या' और 'देशद्रोही' देखे। 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' में मुझे कुछ स्थल बहुत अच्छे लगे। जहाँ तक उपन्यास की कला का सम्बन्ध है (क्योंकि ये उपन्यास कथानक प्रधान हैं)मुझे उनकी कला में अनावश्यक नाटकीयता लगी। 'दिव्या' तो यशपाल ने निश्चय ही सिनेमा को ध्यान में रख कर लिखा है। उसका अन्त सिनेमा के पर्दे पर बड़ा प्रभावोत्पादक हो सकता है। तनिक और सावधानी से यशपाल 'दिव्या' से ऐसे दोष निकाल सकते थे। यही बात 'मनुष्य के रूप' के बारे में कही जा सकती है। इसी कारण उपन्यासों में अस्वाभाविकता का दोष आ गया है। इन दोनों की तुलना में जहाँ तक कथानक के गठन का सम्बन्ध है मुझे यशपाल के शेष उपन्यासों में से 'पार्टी कामरेड' को छोड़ कर 'देशद्रोही' अच्छा लगा। कहानी 'देशद्रोही' की भी यथार्थ नहीं, यशपाल के अधिकांश उपन्यासों की भाँति काल्पनिक है। इस दृष्टि से यशपाल यथार्थवादी लेखक हैं भी नहीं, लेकिन वह संभाव्य (Probable) तो हैं। 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' में यह सम्भाव्यता कई जगह नहीं रहती। यशपाल की यथार्थवादिता उनके कथानाक अथवा पात्रों के चरित्र-चित्रण में नहीं, उन कथाओं अथवा चरित्रों द्वारा प्रस्तुत किये गये आधार-भूत सत्यों में रहती है। आधार-भूत सत्यों को खोकर वे उन पर अपनी कल्पना से कहानी अथवा उपन्यास का महल खड़ा कर देते हैं। यशपाल द्वारा किया गया सत्य का निरूपण किसी को अच्छा लगे या न लगे, पर उसकी सत्यता से प्रायः इनकार नहीं किया

जा सकता। यद्यपि कई जगह उसके दर्शाने की आवश्यकता, जैसे उनकी कहानी 'प्रतिष्ठा का बोझ' में मेरी समझ में नहीं आयी।

अलमोड़ा से आने के बाद कार्यवश मुझे दो-एक बार लखनऊ जाना पड़ा और पहाड़ी प्रदेश में उन्मुक्त सैर-सपाटा करने वाले यशपाल को मैंने मशीनों और प्रूफ़ों से जुटे अनवरत काम करते देखा। यशपाल ने प्रिंटिंग मशीन लगा रखी है और उन्हें इस फ़न में काफ़ी महारत हो गयी है। मशीन का अपना यह ज्ञान उन्हें प्रिय भी है, इसका उन्हें गर्व भी है और वे कहा करते हैं कि मशीन के हर मूड को वे अपनी संगिनी के मनोभावों (मूड्ज़) की भाँति जानते हैं (यद्यपि कोई संगी अपनी संगिनि के, अथवा संगिनि संगी के मनोभावों को पूरी तरह जान सकती है—यह कहना कठिन है।) ऊपर तीसरी मंज़िल पर अपने कमरे में बैठे वे नीचे मशीन की आवाज़ सुन कर ही समझ जाते हैं कि उसे क्या तकलीफ़ है। फिर दफ़्तर का काम करते, प्रूफ़ पढ़ते, मशीन दुरुस्त करते मैंने उन्हें किसी प्रकार की सुस्ती दिखाते नहीं पाया। एक रात वे साढ़े ग्यारह बजे तक प्रूफ़ निकालने वाली छोटी सी दस्ती मशीन ठीक करते रहे और जब वह ठीक प्रूफ़ निकालने लगी तो थकावट के बावजूद हर्ष से उनका चेहरा खिल गया और वे दुर्गा भाभी के यहाँ अपने कमरे में सोने चले गये और उनकी पत्नी न जाने कब तक बैठी प्रूफ़ निकालती रहीं।

बहुत सी बातें भाभी (रानी पाल) और यशपाल में मिलती हैं, लेकिन शायद भाभी में अहं, गाम्भीर्य और काम करने की शक्ति यशपाल की अपेक्षा अधिक है। मैंने सुबह उठते ही उन्हें काम में जुटे पाया और फिर उसी निष्ठा से दिन भर काम करते रह कर आधी रात तक अनथक उसी में निरत देखा। इस पर भी मैंने उन्हें झुँझलाते,

चिड़चिड़ाते या खीझते नहीं पाया। नदी जैसे अनायास कंकर पत्थरों और गढ़ों के ऊपर बहती चली जाती है, मैंने उन्हें दैनिक कार्यक्रम की ऊबड़-खाबड़ता पर धैर्य से बहते देखा है। वे खाना खाने आयीं हैं कि नीचे से पुकार आयी, वे चली गयीं, फिर कुछ देर बाद आकर खाने लगीं। वे बैठी प्रूफ़ पढ़ रही हैं कि कोई आदमी मिलने आ गया, किसी बात पर वाद-विवाद हुआ, वह चला गया तो बिना माथे पर बल डाले प्रूफ़ पढ़ने लगीं।

यशपाल के एक मित्र ने मेरी पत्नी को परामर्श दिया था कि आप लखनऊ जायँ तो रानी पाल से अवश्य मिलें, आपको प्रेरणा मिलेगी। कौशल्या स्वयं अनथक काम करने वाली है, पर इस में संदेह नहीं कि भाभी के काम और विश्वास को देखकर उसे प्रेरणा मिली। मुझे तो यशपाल के जीवन को देखकर महाकवि ठाकुर के नाटक चित्रा की अन्तिम पंक्तियाँ याद आ गयीं। चित्रा जैसा आत्म-विश्वास, दिलेरी और अपने संगी के साथ जीवन के ऊबड़-खाबड़ पथ पर सुख और संकट में पग से पग मिला कर चलने की भावना उनमें है। ऐसी संगिनी को पाकर अर्जुन की भाँति कौन संगी न कह उठेगा—

'Beloved my life is full'

होमवती जी

मेरे कोई बहिन नहीं। बहिन के स्नेह से मैं लगभग वंचित और अपरिचित रहा हूँ। लगभग इसलिए कि आज जब मैं पिछले दस-बारह वर्षों पर दृष्टि डालता हूँ तो मेरठ में बिताये हुए कुछ दिन अनायास आँखों के सामने घूम जाते हैं और लगता है कि उन दिनों में होमवती जी से जो स्नेह मिला, उसमें कुछ बड़ी बहिन के स्नेह का रंग था। उस स्नेह-का जो उदारता में माँ के स्नेह के निकट जा पहुँचता है।

पत्र-व्यवहार तो उनसे मेरा सन् १६३७-३८ से बराबर चलता रहा, पर भेंट चार-पाँच बार से अधिक नहीं हुई। उन के पत्रों से जिस स्नेह और सौहार्द्र का आभास मिलता था, उनके निकट जाने पर उस की मात्रा में वृद्धि ही हुई। प्रायः अपने पत्रों में हम जो कुछ होते हैं, वह यथार्थ में नहीं होते। हम जिसे पत्र लिखते हैं, वह दूर बैठा होता है, उसके तत्काल आ टपकने और हमारे स्नेह की यथार्थता

को जान लेने की सम्भावना नहीं होती। दो मीठे शब्द लिखकर उसके निकट अच्छा बने रहना कठिन नहीं होता। प्रायः हमारे पत्रों को पढ़ कर हमारे सम्बन्ध में धारणाएँ बनाने वाला हमसे मिलने पर और कुछ दिन हमारे साथ बिताने पर, बुरी तरह निराश होता है। ऐसी सरल (और इसलिए महान) आत्माएँ कम होती हैं, जिन का अन्दर-बाहर एक जैसा होता है। होमवती जी को मैंने ऐसा ही पाया—सरल और स्नेहमयी।

मैं पहली बार उनसे कदाचित् १६३८ में मिला। सम्मेलन के शिमला अधिवेशन में गया था—कवि-सम्मेलन में भाग लेने को! वहाँ से दिल्ली कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए दिल्ली आ गया और दिल्ली से मेरठ के एक छोटे से कवि-सम्मेलन में भाग लेने पहुँचा। दिल्ली वालों से मैंने दिल्ली से शिमला का किराया माँगा और मेरठ वालों से एक नयी धोती। दिल्ली आने का प्रोग्राम चूँकि लाहौर में न बना था, इसलिए ज़्यादा ठंडे कपड़े साथ लेकर न चला था। अचकन के अन्दर की कमीज़ काम आ सकती थी, लेकिन पायजामा मैला हो गया था। बिना धोती या पायजामे का प्रबन्ध किये चलना कठिन था। संयोजक समझे मैं मज़ाक कर रहा हूँ, पर जब स्टेशन को जाते हुए मैंने घंटा-घर पर ताँगा रुकवा कर उनसे धोती खरीद देने को कहा तो वे बड़े अचकचाये, विवश उन्होंने एक बढ़िया धोती खरीद दी।

कमला चौधरी के सभापतित्व में सम्मेलन हुआ। होमवती जी तो कुछ ही देर को आयीं। उनसे परिचय और बातचीत भी न हो सकी। पर बटुक जी अथवा उनके किसी मित्र ने मेरी उस धोती की शर्त को लेकर फबती कसी। बजाय शर्मसार होने के मैंने जो उत्तर दिया उससे श्रोता खूब हँसे। दूसरे दिन जब कमला जी के यहाँ खाना

खाने के बाद मैं होमवती जी से मिलने गया तो वहाँ बद्दक जी और चन्द्र जी मौजूद थे। धोती खरीद कर ले देने की उस दिलचस्प शर्त की बात वहाँ फिर उठी। मैं शर्माता तो क्या, अपने वे सब कारनामे सुनाने लगा (जिन पर सचमुच मुझे शर्म आनी चाहिए थी) कि कैसे शिमला के कवि सम्मेलन में गया और कैसे मैंने सम्मेलन के संयोजक से (उनके न चाहने पर भी) एक ओर का किराया हथिया लिया; कैसे इस शर्त पर दिल्ली आया कि दिल्ली तक का किराया मिलेगा; कैसे दीवान हाल में श्रोता अन्दर घुस आये, टिकट नहीं बिके और संयोजक किराया दिये बिना चले गये और कैसे उन के घर जाकर मैंने उनसे किराया वसूल किया और सब ने मिल कर उसके रसगुल्ले उड़ाये आदि-आदि ! उन बेचारे संयजकों की बेबसी पर हम लोग खूब हँसते रहे। होमवती जी के ठहाके हमारे ठहाकों से कम बुलन्द न थे।

भरा-पुरा शरीर, गेंहुआँ रंग, उन्नत ललाट, मुस्कराती आकृति और सरल स्वभाव !—मेरठ से लौटा तो उन की वह सरलता और घरेलूपन मेरे मन पर अंकित रहा। इस के बाद मैंने उन्हें फिर कभी उतना स्वस्थ और उस तरह ठहाका मार कर हँसते नहीं देखा।

दोबारा उन से १६४१ में दिल्ली ही में भेंट हुई। मैं आल इंडिया रेडियो दिल्ली में आ गया था। वे रेडियो पर एक भाषण ब्रॉडकास्ट करने आयी थीं। अज्ञेय जी के यहाँ मैं उनसे मिला और उन्हें तथा चन्द्र जी को चाय पर बुला लाया। जैनेन्द्र और भाभी से भी आने को कह आया, पर अज्ञेय जी से नहीं कह पाया। होमवती जी आयीं तो न केवल अज्ञेय जी को भी लेती आयीं, बल्कि उनकी बहिन इन्दुमती को भी। कदाचित् उन की छोटी बहिन भी साथ थीं। मुझे सचमुच बड़ा आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। जो लोग अज्ञेय की तकल्लुफ़ पसन्दी से परिचित हैं, वे मेरी भावना को समझ सकते हैं। मैं उनसे आने

को कहूँ, वे टाल जायँ और मुझे कष्ट हो, इसलिए चाय पर उन्हें बुलाने की बात मैं टाल गया था। तब कल्पना की मैं ने......चलते समय होमवती जी कहती हैं, "चलो भाई तुम भी अश्क के यहाँ।"

"हमारे जाने की भी बात हो, ऐसा तो शायद नहीं!" अज्ञेय जी पंजों पर तनिक ज़ोर दे, सिर को तनिक एक ओर झुकाये, किंचित मुस्करा कर कहते हैं।

"अरे भाई चलो, वे सब को बुला गये हैं।" या "अरे अश्क तो अपने ही आदमी हैं, उन से कौन ऐसा तकल्लुफ़ है"—होमवती जी कहती हैं और सब को तैयार कर ले आती हैं।

अज्ञेय जी, इन्दुमती जी आदि के वहाँ होने से शायद मैं संकोचवश चुप रहता, पर उन सब के बेतकल्लुफ़ चले आने से कुछ ऐसी खुशी हुई कि संकोच सब हवा हो गया। प्रीतनगर में (जहाँ मैं रेडियो में आने से पहले था) मनोविनोद के लिए मैं कुछ लोगों के हँसी-रोदन और दूसरी हरकतों की नकल उतारा करता था। रौ में आकर वे सब नकलें मैंने दिखायीं। यह फ़न भी मुझे आता है, इस की कल्पना न जैनेन्द्र जी को थी न भाभी को, न होमवती जी और न चन्द्र जी को। अज्ञेय हँसे या मौन रूप से अपने उत्तान-भ्रू ('हाई ब्रो' का अक्षरशः अनुवाद) होने का सबूत देते रहे, यह मैंने नहीं देखा पर होमवती जी, भाभी तथा चन्द्र जी आदि खूब हँसे।

तभी मैं ने महसूस किया कि होमवती जी की हँसी में अंतर आ गया है। वे मुक्त ठहाके जो मेरठ में मैंने देखे थे, अब नहीं रहे।

इस के बाद फिर उनसे भेंट मेरठ में हुई। वहाँ वे हर वर्ष एक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया करती थीं। इस बार उन्होंने मुझे भी आमंत्रित किया। मैं कुछ कारणों से गोष्ठी में भाग न लेना चाहता था, पर श्री वाचस्पति पाठक तथा श्री इलाचन्द्र जोशी इलाहाबाद

से उसमें सम्मिलित होने को जा रहे थे। मुझे और कौशल्या को भी घसीट ले गये। होमवती जी का स्वास्थ्य तो पहले-सा न रहा था, पर उत्साह में कमी न थी। बाहर से आने वाले साहित्यिकों के रहने-खाने के प्रबन्ध में वे ऐसे रत रहतीं थीं कि किसी को महसूस न होता था, वह किसी दूसरी जगह आया है। बस ऐसा लगता था कि अपने ही घर में आये हैं। रौनक़ ऐसी जैसे कि घर में शादी हो। होमवती जी थकी हैं, चिढ़ी हैं, लेकिन काम में रत हैं। अपनी बहू से उन्होंने कहा भी, "तेरी कोई ननद होती तो उसकी शादी में क्या काम न होता।" कोठी के खुले अहाते में छोटा सा शामियाना लगा था, जहाँ साहित्यिक गोष्ठी लगती थी। मुझे न जाने मन की किन गुंजलकों के कारण साहित्यिक गोष्ठियों में वहशत-सी होने लगती है। प्रकृति मेरी चंचल है, बहुत देर तक गम्भीर बने बैठे रहना मेरे लिए दुष्कर है। पाठक जी का और मेरा स्वभाव, जहाँ तक तमाशाईपन का सम्बन्ध है, काफ़ी मिलता है। हम घूमते रहे। कमला जी से मिले। वहीं खाना खाया, गप-शप की और यद्यपि चन्द्र जी और बहिन जी नाराज़ भी हो गयीं, पर हम डोलते रहे।

अन्तिम दिन जब गोष्ठी समाप्त हो गयी, काफ़ी लोग प्रायः चले गये तो होमवती जी ने कहा, "अरे भाई तुम्हारा तो पता ही नहीं चला। तुम किधर क्या करते रहे? और कुछ नहीं तो वे खोंचे वालों की नकलें ही सुना दो। रामअवतार ने सुनीं ही नहीं।" मेरा मन बिलकुल न था, पर उनके अनुरोध में कुछ ऐसा अपनापन था कि मैं ने रामअवतार (उनके लड़के) की ओर देखा और कहा, "अच्छा दूसरे बच्चों को भी बुला लीजिए!" उन्होंने इर्द-गिर्द की कोठियों के बच्चों को भी बुला लिया और मैं सब को घंटा-डेढ़ घंटा हँसाता रहा।

सात-आठ वर्ष के बाद जब मैं १९४८ की जुलाई में पंचपनी

से मेरठ पहुँचा —'सिन्दूर' फ़िल्म के सम्बन्ध में निर्देशक किशोर साहू पर किये जाने वाले मामले में गवाही देने के लिए— तो उनका स्वास्थ्य उतना ठीक न था। वे लेटी हुई थीं। वहीं कमरे में उन्होंने मुझे बुला लिया। देह उन की और भी क्षीण हो गयी थी। पता चला कि उन्हें मधु-मेह की शिकायत है। हृद्रोग भी है। काफ़ी परेशान थीं। कुछ देर बाद एक हृष्ट-पुष्ट युवक आया। उसने मुझे 'नमस्कार' किया।

"पहचाना नहीं, राम अवतार है, इसे आज तक तुम्हारी नकलें याद हैं।" और वे हँसी—वह हँसी जिसमें ध्वनि न थी। ओठों का का बायाँ कोना तनिक खुला, चेहरे की कुछ रेखायें मिटीं और बस !

होमवती जी ने इस बीच काफ़ी लिखा था। पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर उनकी कहानियाँ देखने को मिलती थीं। वे छोटी-छोटी, सीधी साधी घरेलू कहानियाँ लिखने में दक्ष थीं। उन की इधर की कहानियों की पार्श्व-भूमि भी चाहे घरेलू थी, पर उनमें काफ़ी तीव्रता आ गयी थी। साम्प्रदायिक दंगों, देश के विभाजन और उससे पैदा होने वाली समस्याओं, कांग्रेसी सरकार बनने के बाद कांग्रेसी नेताओं के जीवन के झूठ, रिश्वत, ढोल के पोल का अतीव सुन्दर चित्रण उन्होंने कुछ कहानियों में किया था। फिर अपने इर्द-गिर्द रहने वाले ग़रीबों की मनोदशा का वर्णन अनायास उन की कुछ कहानियों में आ गया था। कुछ देर उन कहानियों का ज़िक्र होता रहा। तभी भाई रघुकुल तिलक आ गये। तिलक जी मेरे पूर्व परिचित हैं। बड़े कर्मठ और सिद्धान्तों पर जान देने वाले ! दिल्ली रेडियो पर एक बार मैं ने उनका भाषण रखा था। एक पंक्ति पर प्रोग्राम डायरेक्टर (अब एग्ज़िक्यिटव) को आपत्ति थी। पर तिलक जी ने वह पंक्ति काटने से इनकार कर दिया। भाषण का समय होने वाला था। स्टेशन डायरेक्टर थे नहीं। आख़िर वह भाषण उस पंक्ति समेत ही ब्रॉडकास्ट हुआ। उत्तर प्रान्तीय असेम्बली के पार्लियामेंट्री

सेक्रेट्री के पद से उनके त्यागपत्र का कारण भी उनका वही सैद्धान्तिक मतभेद था। मैं उनकी राजनीति की अपेक्षा उनकी कहानियों का अधिक प्रशंसक रहा हूँ। इसीलिए सेक्रेट्री पद से उनके त्यागपत्र, सोशलिस्ट -कांग्रेस चुनाव में कांग्रेसी पक्ष की ज़्यादतियों की चर्चा के बाद मैंने उनकी कहानी 'शंकरा बाबू' की ('प्रतीक' में वह उन्हीं दिनों निकली थी) बात चलायी। बात-चीत की धारा साहित्य की ओर मुड़ी और होमवती जी की इधर की कहानियों में राजनीति के पुट का स्रोत मिला। इतने में चन्द्र जी आ गये और मैं उन के साथ वकील के यहाँ चला गया।

इस बार मैं कई दिन तक मेरठ रहा। होमवती जी की तबियत में ख़ासा चिड़चिड़ापन आ गया था। किशोर साहू ने उन पर बम्बई में एक मामला दायर कर दिया था अथवा करने की धमकी दी थी। वे बड़ी परेशान थीं। बार-बार मैं सोचता, यदि मुझे पता होता कि उन का स्वास्थ्य ऐसा है तो मैं कभी उन्हें मामला दायर करने का परामर्श न देता। मेरी अपनी सेहत उतनी अच्छी न थी। दिल्ली में यक्ष्मा के सरकारी अस्पताल के इंचार्ज ने फ़तवा दे दिया था कि मेरा फेफड़ा पूरी तरह दबा नहीं, कि मुझे एब्ह्लीयन आप्रेशन कराना चाहिए था। मैं बड़ा चिन्तित था, पर अपने अधिकार के लिए लड़ना मेरी आदत है। मरते-मरते भी मैं इससे नहीं चूक सकता। किन्तु सब एक जैसे नहीं हो सकते। किशोर शाहू पेशी पर आये नहीं, मेरी और अज्ञेय की (वे भी निश्चित तिथि पर आ गये थे।) गवाही न हो सकी। अज्ञेय शायद इस झमेले के विरुद्ध थे। होमवती जी के अनुरोध से चले आये थे। मुझे बड़ी कोफ़्त हो रही थी। अपनी पत्नी की नाराजगी मोल ले कर मैं चला आया था। यह आग क्योंकि मैंने ही लगायी थी, इस लिए आवश्यकता पड़ने पर उसमें जलना भी मैं

अपने कर्तव्य का अंग समझता था और इसी लिए जब होमवती जी ने विवश किया कि बिना मेरे आये और गवाही दिये मामला नहीं जीता जा सकता तो मैं भर गर्मियों में दूरस्थ पंचगनी की ठंडी फ़िज़ा को छोड़ दिल्ली और मेरठ की गर्मी में झुलसने चला आया था। मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त की सी बात थी। अज्ञेय जी के लिए यह सारी मामले-मुकदमे-बाज़ी कदाचित खासे घटिया और गँवार स्तर की चीज़ थी। उनके संस्कार मुझ से भिन्न हैं। अपने अपने संस्कारों के प्रति हमारी आस्था भी अक्षुण्ण है, पर जो हो, अब जब आया था तो मामले को बिना सुलझाये जाना न चाहता था। कोशिश यह थी कि मेरी गवाही किसी तरह हो जाय। इस प्रयास में मुझे कई दिन तक मेरठ में टिके रहना पड़ा।

मामले की उलझन के अतिरिक्त होमवती जी के व्यवहार में कोई अन्तर मैं ने नहीं देखा। बम्बई से तो मैं उखड़ ही गया था। लाहौर का सहारा छूट गया था। बहुत-सा सामान और मेरी कुछ प्रिय चीज़ें लाहौर की भेंट हो गयी थीं। पुनर्वास की चिन्ता थी। पंचगनी में रहते पौने दो वर्ष हो चुके थे और सारी पूँजी उन दो वर्षों की भेंट हो गयी थी। होमवती जी चाहती थीं, मैं मेरठ ही में आ जाऊँ, राम अवतार और मैं मिल कर प्रकाशन आरम्भ कर दें, पर मैं इलाहाबाद आने की सोचता था। बैठते तो घंटों इन्हीं घरेलू समस्याओं की बात चला करती।

उन्हीं दिनों की एक साँझ मुझे विशेष-कर याद है। शाम को वह मुझे सैर को ले गयीं। उनकी कोठी के सामने से एक नाला हो कर बहता है। म्यूनिसपेलिटी ने उसे पक्का बनवा दिया है। इतना बड़ा पाट है उसका कि बड़ी नहर सा लगता है। उस समय तो उसमें कहीं बहुत नीचे हलकी लकीर-सा पानी बह रहा था। 'बरसात में तो यह नहर सा लहलहा उठता है'—मेरे पूछने पर यही होमवती जी ने बताया। निकट ही एक ओर को कब्रिस्तान है। उन के

बँगले की छत से वह दिखायी देता है। कब्रखुदे को लेकर उन्होंने एक सुन्दर कहानी भी लिखी है। हम नाले के किनारे-किनारे पगडंडी पर चले जा रहे थे और होमवती जी कब्रखुदे की बातें सुना रही थीं। कब्रिस्तान और कब्रखुदे की बात से विभाजन और साम्प्रदायिक दंगों की बात चल निकली—जब हथगाड़ी पर तीन-तीन शव एक के ऊपर एक बोरियों-सरीखे लाद कर लाये जाते थे और एक ही गढ़े में दफ़ना दिये जाते थे। और उन्होंने एक घटना सुनायी जब दंगों के दिनों में शव ढो कर लाने वाले ने पुल पर हथगाड़ी रोक दी कि वह प्रति शव डेढ़ रुपया (या दो, मुझे याद नहीं) लेगा। झख मार कर म्यूनिसपेलिटी के अफ़सर को वही मज़दूरी देनी पड़ी। इस घटना में जो करुणा और बीभत्सता थी, उससे उन का कंठ आर्द्र हो आया। मेरा खयाल है, उन्होंने अवश्य इस घटना पर कहानी लिखी होगी।

बातें करते-करते हम एक किसान की झोंपड़ी के पास से गुज़रे। वह झोंपड़ी पगडंडी के तनिक नीचे, खेतों के इस छोर पर बनी थी। किसान मटर या सेम की छीमियाँ टोकरी में भर रहा था। होमवती जी ने तनिक रुक कर उससे भाव पूछा, "क्यों भइये के सेर दी हैं?" वहीं टोकरी पर झुके-झुके बिना हमारी ओर देखे उसने पत्थर-सा उत्तर फेंका, "ग्यारह आने!"

"मैंने कहा सब्जी-तरकारी की तो आपको मौज है।"

"अरे कहाँ, देख तो लिये इन के तेवर!" वे बोलीं, "ये लोग मंडी में इकट्ठी बेचते हैं, सेर दो सेर के झमेले में नहीं पड़ते। मंडी में इस से सस्ती मिलती है।"

और हम बातें करते ज़रा और दूर निकल गये। मैं डेढ़-पौने दो बरस से निरन्तर आराम कर रहा था। चलने-फिरने की उतनी आदत न रही थी। हम कोठी से कोई आध-पौन मील आये होंगे कि मैं थकान महसूस करने लगा। हम वापस लौटे।

वापसी पर हम उसी झोंपड़ी के पास से गुज़रे। वह किसान हमारी ओर को पीठ किये अभी तक टोकरी पर झुका हुआ था। कदाचित् वह छीमियाँ धोकर दूसरे टोकरे में डाल रहा था। वहीं झोंपड़ी की दीवार के साथ एक खटिया धरी थी। एक बकरी बँधी थी और दो मेमने (बकरी के बच्चे) वहीं कुदकड़े मार रहे थे। मेरा जी हुआ, वह खाट बिछ जाय और मैं कुछ क्षण उस पर बैठ या लेट कर आराम करूँ, तब आगे बढ़ें। होमवती जी से कहा तो बोलीं, "अरे चलो, घर ही चल कर आराम करना। कौन दूर है, धीरे-धीरे चले जायेंगे।"

पर तभी किसान की छोटी-सी बच्ची पगडंडी के पास आ खड़ी हुई। मैंने बायें दाँत में हवा भर कर चिड़ियों की बोली बोली। बच्ची मुस्करा दी। उस की माँ पास बैठी जाने क्या सोच रही थी। वह भी मुस्करा दी। मैंने कहा, "बच्ची तो आपकी बहुत प्यारी है।" तब उस किसान ने भी हमारी ओर देखा। मैंने कहा, "भई अगर तुम्हें बुरा न लगे तो इस खाट को बिछा कर कुछ क्षण सुस्ता लें। थक गये हैं।"

"हाँ हाँ बाबू जी, बिछा लीजिए!" वह नर्म पड़ गया।

मैं खाट उठाने लगा था कि उस की पत्नी ने बढ़ कर उसे खींच कर बिछा दिया। मैं बैठ गया और फिर आधा लेट गया। साँझ के उस धूमिल प्रकाश में, मिनमनाते मेमनों के निकट, झोंपड़ी की छाया में उस खुरी खाट पर सुस्ताना मुझे बड़ा भला लगा। जल्दी ही मैंने किसान को बातों में लगा लिया, वह अपना काम छोड़ चिलम ले कर मेरे पास आ गया! बहिन जी कुछ क्षण मेरे आग्रह के बावजूद खड़ी रहीं, फिर खाट की पट्टी पर आ बैठीं और बड़े कुतूहल से हमारी बातें सुनने लगीं।

"चलते समय मैंने कहा, "यार अगर आध-एक सेर छीमियाँ दे दो तो बड़ा अच्छा हो।"

"ले जाइए बाबू जी।"

"पर भई हम आठ आने सेर लेंगे, ग्यारह आने नहीं।"

"भला!"

और उसने आध सेर छीमियाँ तोल दीं। मैंने रुमाल में ले लीं और ग्यारह आने के हिसाब से उसे साढ़े पाँच आने दे दिये।

हम कुछ ही पग चले होंगे कि किसान ने आवाज़ दी। मैं मुड़ा।

"यह छै पैसे आप ज़्यादा दे गये हैं।

"अरे रख लो जी," मैंने वहीं से हँसते हुए कहा।

"नहीं नहीं बाबू जी जब हिसाब हो गया तो..."

"तुम्हारी मर्ज़ी लाओ।" मैंने बढ़ कर पैसे ले लिये।

बहिन जी हँस दीं। उनकी आँखों में स्नेह का कुछ ऐसा भाव आ गया जो बच्चे की नटखटी को देख कर माँ की आँखों में आ जाता है। "अरे तुम यहीं आ जाओ," वे बोलीं, "सब्ज़ी तरकारी तो सस्ती मिलेगी।"

और इस बात पर आश्चर्य प्रकट करने लगीं कि मैं कितनी जल्दी उस अनपढ़ किसान से खुल गया और मैं उन्हें बताने लगा कि मैं चंगड़ मुहल्ले में दो बरस इन्हीं गूजरों और अहीरों में रहा हूँ। बड़े आदमियों के यहाँ मुझे चाहे संकोच हो, पर इन में तो मैं इन-सा बन जाता हूँ।

उनकी वह स्निग्ध वात्सल्य-भरी दृष्टि और मेरठ की वह याद आज भी मेरे मन पर अंकित है।

उस चिड़चिड़ेपन के बावजूद, जो बीमारी में उन के स्वभाव का अंग बन गया था, होमवती जी के स्वभाव में जो ठहराव और शान्ति थी उसमें ज़्यादा कमी न आयी थी। मैंने एक बार शुरू के दिनों में और एक बार तीन एक बरस पहले उन्हें बड़े कड़े पत्र लिखे। यह कटु पत्र-व्यवहार भ्रमवश हुआ। पहली बार उन्हें भ्रम हुआ, दूसरी बार मुझे।

दोनों बार मेरे पत्रों में इतनी कड़ाई थी कि मैंने अपनी ओर से पत्र-व्यवहार सदा के लिए बन्द कर दिया, पर उन्होंने न केवल बड़ी शान्ति और सब्र से काम लिया। बल्कि मेरी आवेगशीलता को क्षमा भी कर दिया। मेरे दिमाग़ की नसें न जाने कितनी नाज़ुक हैं कि ज़रा सी बात मुझे खा जाती है और मेरा चैन-आराम हराम हो जाता है। दाना लोगों ने मुझे इस कमज़ोरी पर विजय पाने के कई नुस्खे बताये हैं, मुझे वे कंठस्थ भी हैं, और मैं सदा उन्हें काम में लाने के मंसूबे बाँधता रहता हूँ, पर जब समय आता है, वे सब धरे के धरे रह जाते हैं।

उन्हीं दिनों की बात है जब मैं पहली बार मेरठ में उनसे मिलकर आया था। आकर कुछ दिन बाद मैं ने उन्हें एक पत्र लिखा—किस काम से, यह तो अब याद नहीं, हिन्दी मिलाप के लिए उन से कहानी माँगी थी, या क्या था, पर अपनी उस भेंट की याद दिलाते हुए मैंने लिखा था कि उन्हें तो मेरी याद भी शायद न रही होगी, पर मैं उन्हें नहीं भूला। या कदाचित यह लिखा था कि उन्होंने शायद मुझे भुला दिया, पर मुझे अभी तक उन घड़ियों की याद है। याद शब्द मेरे उस वाक्य में था या नहीं यह तो मैं नहीं कह सकता, पर भुलाना शब्द अवश्य था। मैं हिन्दी में नया नया लिखने लगा था। पत्र-व्यवहार में तो दूर मेरी लेखनी तक में उर्दू ढंग था (अब भी है।) उर्दू में किये जाने वाले पत्र-व्यवहार का वह कोई साधरण सा वाक्य था। पर वे बुरा मान गयीं। अब इतने वर्षों के बाद इस घटना पर विचार करता हूँ, तो पाता हूँ कि उनकी सतर्कता ठीक ही थी। वे हिन्दू विधवा थीं, पुराने रीति-रिवाज में घिरी। उनके लिए अत्यधिक सतर्क रहना ज़रूरी था। उस सीधे-सीधे वाक्य में कोई बुराई भी निहित हो सकती है, शायद यह उन्हें किसी दूसरे ही ने सुझाया हो। जो भी हो, उन्होंने बड़ा रूखा-सा उत्तर भेजा कि मैं ने बड़ा अनुचित पत्र लिखा है, कि मेरठ में एक साधारण परिचित के रूप में उनसे मिला था और भूलने-

भुलाने की बात मुझे न लिखनी चाहिए थी और कि मैं भविष्य में ऐसे पत्र न लिखूँ। उन के पत्र में ठीक-ठीक क्या था, यह मैं नहीं कह सकता, पर कुछ ऐसी ही बात थी। पढ़ कर मेरे आग लग गयी। पहले तो मैंने पत्र फाड़ कर फेंक दिया और सोचा कि ऐसे मूर्खता-भरे पत्र का उत्तर देना बेकार है, पर मुझे इतने से कहाँ चैन आता। कलम उठाकर मैंने बड़ा कड़ा पत्र उन्हें लिखा कि वे उमर में मुझसे बड़ी हैं (वे सचमुच मुझ से बड़ी थीं, या बड़ी थीं तो कितनी? यह बात मैं अब भी नहीं जानता, पर मैं उनसे मिला तो मुझे वे अपने से उमर में बड़ी लगी थीं) मेरे सीधे से पत्र में कोई ऐसा अर्थ निकालना उन की भूल थी...और न जाने क्या क्या लिखा? अन्त में इस बात की माँग की कि वे उस पत्र की शब्दशः प्रतिलिपि भेजें ताकि मैं देखूँ कि मैं ने ऐसा कौन सा अनुचित वाक्य लिख दिया।

मुझे अच्छी तरह याद है, मैं दो-तीन दिन तक सुलगता रहा। किन्तु जब उनका पत्र आया तो इतना शान्ति-भरा था कि मेरा क्रोध हवा हो गया। उन्होंने अपने पहले पत्र के लिए क्षमा माँग ली और लिखा कि वह सब भ्रमवश हुआ और मैं उस को भूल जाऊँ।

दूसरी बार १९४७ में कुछ भ्रम मुझे हुआ और अपनी बीमारी और उसकी चिड़चिड़ाहट और अपनी आवेगशीलता के सारे ज़ोर के साथ मैंने उन्हें एक बहुत ही कड़ा पत्र लिखा।

मुझे याद है, मैं फ्रेनिक आपरेशन के दूसरे-तीसरे दिन बड़े कष्ट से लेटा था, जब मन को दूसरी ओर लगाने के लिए मैंने बम्बई से छपने वाला उर्दू साप्ताहिक 'शाहिद' देखना आरम्भ किया। एक विज्ञापन को देखकर मैं चौंका। फ़िल्मिस्तान का फ़िल्म 'सिन्दूर' बम्बई में रिलीज़ हो गया था। मैंने आव देखा न ताव, कलम उठाया और अपने कष्ट के बावजूद एक पत्र होमवती जी को लिख दिया कि 'सिन्दूर' की कहानी उन की 'गोटे की टोपी' से ली गयी है। फ़िल्म

देखें और डायरेक्टर तथा प्रोड्यूसर पर दावा करें। यह भी लिखा कि वे अमीर हैं,इस अन्याय का प्रतिकार कर सकती हैं,कि यदि वे जीत जायेंगी तो आगे के लिए फ़िल्मी दुनिया में काम करने वालों को कान हो जायँगे और लेखकों का बड़ा हित होगा...आदि-आदि।

बहिन जी को मेरी उस सूचना से बड़ी प्रसन्नता मिली। उन्होंने कदाचित् कई स्नेहियों को फ़िल्म दिखाया और सभी ने मेरी धारणा की पुष्टि की। तब उन्होंने मुझे पत्र लिखा कि मैं उस फ़िल्म-कहानी की प्रति-लिपि प्राप्त करके उन्हें दूँ ? मैंने उन्हें पहले भी लिख दिया था कि मैं यक्ष्मा से पीड़ित हूँ, कि सूचना भर देने के अतिरिक्त मैं उनकी कोई सेवा न कर सकूँगा। पर जब उनके दो पत्र आये तो मैंने एक लम्बे में पत्र उन्हें अपनी स्थिति समझायी, कि मैं बहुत बीमार हूँ और मुझे पत्र तक लिखने की मनाही है, कि इसके अतिरिक्त फ़िल्मिस्तान से मेरा सम्बन्ध रहा है, न भी होता तो बम्बई जाना और वहाँ से वह सब लाना बड़ा कठिन होता। मैंने उन्हें नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर, ब्रजेन्द्र गौड़ आदि के पते लिखे कि वे उनकी सहायता करेंगे; बताया कि नागर जी को भी फ़िल्म के निर्माता से ऐसी शिकायत थी, आदि आदि......

होमवती जी ने या तो यह समझा कि मैं आपरेशन आदि का बहाना करता हूँ, या जाने क्या समझा, जब उन के दो पत्रों का मैंने उत्तर न दिया तो उन्होंने तीसरे पत्र में दूसरी बातों के अतिरिक्त 'कार्य्य हो जाने की सूरत में' मेरी कुछ सहायता करने की भी बात लिखी।

सहायता की मुझे ज़रूरत न हो यह बात नहीं। पूँजी खत्म हो गयी थी और मैं अभी पूरे तौर पर स्वस्थ न हुआ था। पर मुझे उस एक पंक्ति से जितना मानसिक कष्ट पहुँचा मैं बयान नहीं कर सकता।

'सिन्दूर' फ़िल्म की एक कहानी है। पहले मैं ही इसके सम्वाद लिखने जा रहा था। महूर्त के लिए बीच में से दो 'सीक्वेंस' मुझे मिले थे, और जब मेरे लिखे सम्वाद निर्देशक ने पसन्द कर लिये तो मुझे उसका पूरा मसौदा दिया गया। स्व० रायसाहब चूनीलाल ने मुझे बुलाकर कहा कि मैं इस मसौदे को अपने तक रखूँ, किसी से इसके प्लाट का ज़िक्र न करूँ, आदि-आदि। जब अपने कमरे में जाकर, मैंने उस मसौदे को शुरू से पढ़ना आरम्भ किया तो लगा कि यह कहानी तो पहले पढ़ी है, अन्त तक पहुँचते-पहुँचते समझ आ गयी कि 'गोटे की टोपी' से ली गयी है और उसमें जो एक-दो पात्र जोड़े गये हैं, वे फ़िल्म की ज़रूरत के खयाल से जोड़े गये हैं। होमवती जी के उस संग्रह में वह कहानी मुझे बड़ी अच्छी लगी थी और याद रही थी। तब मैंने मुकर्जी से (जो हमारे कंट्रोलर आफ़ प्रोडक्शन्ज़ थे) यह बात कही। वे टाल गये। मेरे लिए उसके सम्वाद और आगे लिखना कठिन हो गया। एक-आध सीक्वेंस मैंने और लिखा, फिर मैंने इनकार कर दिया। डायरेक्टर कृष्णगोपाल मुझे अपने फ़िल्म के लिए चाहते थे। उन्होंने मुझे ले लिया। मेरी यह बात मालिकों को पसन्द न आयी। मैं स्वयं उस ज़िन्दगी से तंग था। सेहत जवाब दे रही थी। सो मैंने नौकरी छोड़ दी। मैंने तो सिद्धान्त की खातिर लगी नौकरी को लात मार दी और होमवती जी ने समझा कि मैं शायद 'कुछ' चाहता हूँ। कम से कम उस पंक्ति से मुझे वही ध्वनि लगी।

मुझे इतना दुःख पहुँचा कि मैं चुप रह गया। कौशल्या पहले ही से नाराज़ थी। पत्र लिखने की मुझे आज्ञा न थी और मेरी ओर से पत्र-व्यवहार आदि वही किया करती थी। मैं लम्बे-लम्बे पत्र लिखता तो वह बुरा मनाती। यह पत्र मिला और मैं झल्लाया तो उसने ऊपर से दो-चार ताने ही दिये। होमवती जी ने एक पत्र और लिखा। तब मैंने झल्ला कर उन्हें बड़ा कड़ा उत्तर दिया और समझ लिया

कि अब कभी वे मुझे पत्र न लिखेंगी। वापसी डाक से उनका उत्तर आया। उलटे मैं लज्जित हो गया। पत्र पर ७-८-४७ की तारीख है।

प्रिय भाई,

अभी-अभी आपका पत्र मिला। निःसन्देह मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया है। मैं ऐसी ही अभागी हूँ, जो कोई मेरे प्रति सहानुभूति रखता है, वह कष्ट ही भोगता है। समझ में नहीं आता कि मैं इस समय आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ। केवल बहिन के नाते ही मैंने आपको कुछ लिख दिया था। शायद ग़लत ढंग से लिखा गया होगा। तभी आप नाराज़ हो गये और उस नाराज़गी से मेरी सरल भावनाओं को कितनी ठेस लगी, इसकी शायद आप कल्पना नहीं कर सके......

पत्र बहुत लम्बा है और इसी रंग में लिखा गया है। मेरे लिए कोई चारा न रहा। अपनी आवेगशीलता पर शर्म आयी। मैंने लिख दिया कि उनसे व्यक्तिगत रूप से किसी प्रकार की सहायता न लूँगा और यदि मेरे आये बिना किसी तरह काम न चलेगा तो जब डाक्टर मुझे कुछ भी इस योग्य समझें तो मैं आ जाऊँगा।

निबन्ध-रिपोर्ताज़

कलम-घसीट

'कलम-घसीट' का मतलब साफ़ है......ऐसा लेखक जो सर्र सर्र कलम घसीटता चला जाय। लेकिन क्या हम ऐसे लेखक को, जिसकी प्रतिभा अपरम्पार है और जो अपनी 'आमद' को देख कर कह उठता है...'बादल से बँधे आते हैं मज़मूँ मेरे आगे' और लेख पर लेख, कहानी पर कहानी या कविता पर कविता लिखता जाता है, कलम-घसीट कहेंगे? न! यदि वह अच्छा नहीं लिखता तो हम उपेक्षा से उसे 'लिक्खाड़' कहेंगे, और यदि वह ज़्यादा लिखने के साथ-साथ अच्छा भी लिखता है तो हम उसे 'उर्वर कल्पना का स्वामी प्रतिभाशाली लेखक' की संज्ञा देंगे। फिर यह कलम-घसीट नाम का जीव कौन है? ज़ाहिर है कि जो कलम घसीटता है, वह कलम-घसीट है, लेकिन यदि यह कहें—कलम-घसीट वह है, जो इच्छा या अनिच्छा से कलम घसीटने को मजबूर है तो शायद इस शब्द के ठीक अर्थ को हम व्यक्त करेंगे। कलम-घसीट को अँग्रेज़ी में 'हैक राइटर' (Hack writer) कहते हैं। शब्द-कोष में Hack शब्द के कई अर्थ हैं:—

• क्रिया रूप में—काटना, पुर्ज़े पुर्ज़े करना, परखचे उड़ाना।

• संज्ञा रूप में—लद्दू जानवर, भाड़े का टट्टू और पारिश्रमिक लेकर दूसरों के लिए अपनी रुचि के विपरीत काम करने वाला।

और यों देखा जाय तो यह अँग्रेज़ी शब्द कलम-घसीट नाम के जीव की सभी खूबियों-खामियों को अपने में समो लेता है। कलम-घसीट का कलम, जो भी सामने पड़े— वह कहानी हो, अनुवाद हो, विज्ञापन हो, भाषण हो, किसी नेता की स्तुति में गायी हुई प्रशस्ति हो या किसी धनी-मानी के सुपुत्र का सेहरा—एक-जैसे निर्मम हाथ से उसके पुर्ज़े उड़ा देता है, यानी घसीट डालता है। लेकिन यह सब वह रुचि से करता हो, ऐसी बात नहीं। रुचि को नहीं, उसकी त्वरा में पारिश्रमिक को दखल है। कितनी तेज़ी से उसका कलम सामने-पड़े काम की धज्जियाँ उड़ाता है, यह बात उस काम से मिलने वाले पारिश्रमिक पर निर्भर रहती है। शायद उसके घर में एक बीमार या लड़ाकी या चिड़चिड़ी बीवी और किलबिलाते या स्कूल जाते कई बच्चे हैं या अगर वह शादीशुदा नहीं है तो अपने छोटे भाइयों की पढ़ाई का बोझ या अपनी बहनों के ब्याह की समस्या उसके सामने मुँह बाये खड़ी है, या फिर उसकी बूढ़ी माँ या वृद्ध पिता बीमार है और मँहगे डाक्टर और दवाइयाँ उसे निरन्तर कलम घसीटने पर विवश किये हुए हैं। जो भी सामने आये, इच्छा अनिच्छा को छोड़, वह उस काम को ले लेता है और घर घसीटता है। काम के बोझ से दब जाता है पर उफ़ नहीं करता। परिस्थितियों के कोड़े निरन्तर उसकी पीठ पर पड़ते हैं और वह थके मन और शिथिल तन से कलम बढ़ाये जाता है। वह लद्दू जानवर नहीं तो क्या है?

वह लेखक है। दैव ने उसे अपने विचारों को व्यक्त करने की

अपूर्व शक्ति प्रदान की है। उसने कभी महान कहानीकार, नाटककार या कवि बनने के सपने देखे हैं। लेकिन अब तो उसे उन सपनों की याद भी नहीं रही। शुरू-शुरू में उसने सदा चाहा था कि वही काम वह हाथ में ले जो उसकी रुचि के अनुसार हो। उसने कोशिश की थी कि वह कहानियाँ लिख कर अपना और अपने कुटुम्ब का पेट पालेगा, लेकिन शीघ्र ही उसे मालूम हो गया कि साहित्य-सृजन से इतना धन अर्जित करना कि उसके बीबी-बच्चे पल सकें, भाई शिक्षा पा सकें, बहनों का ब्याह हो सके या माँ-बाप की बीमारी और मँहगी दवाइयों के बीच की खाई पट जाय, एकदम असम्भव है और उसने पहले उत्कृष्ट विदेशी कहानियों के अनुवाद करने शुरू किये थे। बड़ी रुचि से वह यह काम करता और दस पाँच रुपये जो भी साप्ताहिक या मासिक पत्रिकाओं से मिल जाते थे, ले लेता, लेकिन महीने में वह इतना भी न कमा पाता कि उसे 'कमाना' कहा जाय। फिर सहसा एक जासूसी उपन्यास छापने वाले अनपढ़, पर धनी प्रकाशक ने उससे कहा कि वह इतनी मुश्किल से कहानी लिखता (यानी अनुवाद करता) है और उसे केवल पाँच दस रुपये मिलते हैं, यदि वह उसके लिए एक छोटा सा उपन्यास लिख दे तो वह उसे साठ-सत्तर, और उपन्यास बड़ा हो तो सौ रुपये तक दे सकता है।

कलम-घसीट को जासूसी उपन्यास लिखना तब निहायत घटिया काम लगता था। उसने टालने के लिए कहा, "मुझे जासूसी उपन्यास लिखना नहीं आता।"

"इसमें कौन मुश्किल है?" प्रकाशक बोले। "गुदड़ी बाज़ार में जाकर पुरानी किताबों से कुछ अंग्रेज़ी जासूसी उपन्यास चुन लीजिए। जो अच्छा हो उसका उलथा कर डालिए। ज़रा नाम-धाम बदल कर उसे हिन्दुस्तानी बना दीजिए। बस! कापी हमको पसन्द आ गयी तो पचास साठ रुपये हम आपको दे देंगे।"

'कापी।'...कलम-घसीट ने उपेक्षा से प्रकाशक की ओर देखा। उसका खून अभी गर्म था और साहित्यकार बनने के सपने भी अभी छिन्न-भिन्न न हुए थे।..."ऐसी कापी तैयार करना मेरे बस का नहीं।" उसने उपेक्षा से कहा, "अच्छी कहानी या उपन्यास चाहिए तो हम लिख दें।"

लेकिन परिस्थितियों के कोड़ों की मार ने उसे गुदड़ी बाज़ार जाने, जासूसी उपन्यास खरीदने, उनका उलथा करने और उसको उन नितान्त अनपढ़ प्रकाशक महोदय की सेवा में ले जाकर उसके बदले में सौ नहीं, साठ नहीं, पचास नहीं, केवल तीस रुपये पाने पर मजबूर कर दिया। उसके सुनहरे सपनों की रेशमी चादर में यह पहला पैवन्द था। लेकिन यह तो तब की बात है जब 'आतिश जवान था'। अब तो चादर में रेशम का कहीं पता ही नहीं, बस पैवन्द ही पैवन्द नज़र आते हैं।

जिस प्रकार साहित्य-लेखन की कला है, अच्छा साहित्यिक अपनी रुचि के अनुसार अच्छी कहानियाँ, नाटक या कविताएँ पढ़ता है, सुन्दर उपयुक्त सूक्तियों के उद्धरण कापी में नोट कर रखता है, छोटी सी लायब्रेरी बनाता है और अध्यवसाय से अपनी कला में सिद्धि प्राप्त करता है, इसी तरह कलम घिसने की भी एक कला है, जिसमें निरन्तर श्रम, अध्यवसाय और अनुभव से कलम-घसीट ने अपूर्व सिद्धि प्राप्त कर ली है। भानमती के पिटारे सरीखी उसकी छोटी सी लायब्रेरी है। इसमें गुदड़ी बाज़ार से खरीदे हुए जासूसी और प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास हैं, पत्र-पत्रिकाओं में छपे विभिन्न विज्ञापनों की फ़ाइलें हैं, अलग अलग लिफ़ाफ़ों में अलग अलग तरह के लेखों के तराशे बन्द हैं—एक में स्वास्थ्य पर तो दूसरे में स्पोर्टस पर; तीसरे में सेक्स पर तो चौथे में फ़ैशन पर; पाँचवें में महान नेताओं

के वक्तव्य हैं तो छठे में संसार के प्रसिद्ध लोगों की जीवनियाँ ! फिर एक फ़ाइल में नेताओं, मैनेजिंग डायरेक्टरों और बड़े पदाधिकारियों को दिये जाने वाले मान-पत्र, अभिनन्दन-पत्र और विदाई-पत्र हैं तो दूसरी में दूल्हों के सेहरे और दुल्हनों को दिये जाने वाले आशीर्वाद ! इन्हीं सब के बल पर छोटे से छोटे नोटिस पर कलम-घसीट मनचाही चीज़ तैयार करने की प्रतिभा रखता है।

● किसी बड़े लाला के लड़के की शादी है। उनकी इच्छा है कि जब बारात उनके समधी के यहाँ जाय, दूल्हा सेहरा बाँधे तो उसके मित्र दो सेहरे पढ़ें, जिनमें दूल्हा के हुस्न की तारीफ़ के साथ उसके पिता के धन-धान्य, उदार दिली और हँसमुखता का भी उल्लेख हो। लेकिन दुर्भाग्य यह कि उनके अपने या उनके सुपुत्र के मित्रों में कोई भी कवि नहीं। कविता करना तो दूर रहा कविता को समझने का सलीक़ा भी उनमें से किसी को नहीं। उनके सुपुत्र के मित्रों में एक सिनेमा के गानों को अपने भोंडे स्वर में बड़े मज़े से गा लेते हैं। दूसरे फ़िल्मों के नायक-नायिकाओं के गुप्त-तम जीवन के सम्बन्ध में मित्रों की ज्ञानवृद्धि कर सकते हैं। एक तीसरे हैं जो नित्य नयी तर्ज़ के फ़ैशन के बारे में मित्रों को जानकारी दिया करते हैं और एक चौथे प्रेम-कहानियाँ सुनाने में दक्ष हैं। लेकिन कवि उनमें से कोई नहीं। लाला जी के अपने मित्रों में दो साहब मिठाइयों की विभिन्न किस्मों का उल्लेख बड़े विशेषज्ञ की भाषा में कर सकते हैं। एक तीसरे चाट के पंडित हैं और चौथे भांग घोटने में अपना सानी नहीं रखते। लेकिन कविता किस चिड़िया का नाम है, यह उनमें से कोई नहीं जानता। और लाला जी हैं कि सुपुत्र की शादी के अवसर पर सेहरे पढ़वाने पर तुले हैं...बात यह हुई कि वे एक बार अपने एक बैरिस्टर मित्र के लड़के की शादी पर गये थे। उनके सुपुत्र को जब सेहरा बँधा तो दूल्हा के एक मित्र ने बड़ा सुन्दर से हरापढ़ा। लड़के की जो

तारीफ़ की सो की, पर उन बैरिस्टर महोदय की भी बड़ी तारीफ़ की। बड़े चौड़े सुनहरी फ्रेम में जड़ा, सुन्दर सुनहरी अक्षरों में छपा हुआ सेहरा जब दूल्हा के मित्र ने पढ़ा (एक एक प्रति सब उपस्थित सज्जनों को बाँटी गयी थी) तो लाला जी की आँखे अपने बैरिस्टर मित्र के चेहरे पर जमीं उसके खिलते हुए रंगों को देखती रहीं और तभी उन्होंने तय किया कि जब उनके साहबज़ादे की शादी होगी तो वे दो सेहरे पढ़वायेंगे। अपने मित्रों से उन्होंने कहा कि चाहे जैसे हो, जितना खर्च हो, सेहरे लिखवाये जायँ, सुनहरी रंग में छपवाये और सुनहरी फ्रेमों में मढ़वाये जायँ।

सो ढूँढते ढाँढते लाला जी के मित्र कलम-घसीट के यहाँ आये। घोर व्यस्तता का बहाना कर (कि यह भी उसकी कला का अंग है) कलम-घसीट ने मजबूरी ज़ाहिर की कि वह एक अभिनन्दन पत्र लिखने जा रहा है, जो कल ही उसे दे देना है। पर लाला जी के मुसाहब यों खाली हाथ लौटने वाले न थे। सख़्त चेहरे कैसे नर्म पड़ जाते हैं, यह सब भली-भाँति जानते थे। उन्होंने अनुनय-विनय की और कहा कि ज्यादा समय होता तो वे कहीं और जाते, लेकिन बारात तीन दिन में चढ़ने वाली है और लाला जी सेहरे ज़रूर चाहते हैं और ऐसे मुश्किल वक्त में कोई दूसरा उनके आड़े नहीं आ सकता और उन्होंने बीस रुपये पेशगी कलम-घसीट के सामने रख दिये और बाक़ी तीस रुपये दोनों सेहरे मिलते ही देने का वचन दिया। तब प्रकट बड़ी अनिच्छापूर्वक (लेकिन दिल में बड़े खुश होते हुए) कलम-घसीट ने रुपये जेब में डाल लिये। कहा कि वह लाला जी की बड़ी इज़्ज़त करता है; उनका आदेश वह कैसे टाल सकता है; वह रात भर जगेगा और भगवान ने चाहा तो सुबह उनको दोनों सेहरे दे देगा।

"ज़रा लाला जी की तारीफ़ करना न भूलिएगा।" लाला जी के मित्र कहते हैं।

"निशा-खातिर रहिए ! लाला जी क्या, उनके दूर नज़दीक के रिश्तेदारों और मित्र-पड़ोसियों तक की तारीफ़ सेहरे में कर दूँगा।" कलम-घसीट उन्हें विश्वास दिलाता है।

उनके जाने के बाद कलम-घसीट सेहरों के फ़ाइल निकालता है। चूँकि सेहरे दो लिखने हैं, इसलिए एक लम्बे छन्द का चुनता है, दूसरा छोटे छन्द का और थोड़े बहुत परिवर्तन के बाद उन्हें अच्छे कागज़ पर सुन्दर अक्षरों में लिख कर तैयार कर देता है।

परिवर्तनों की ज़रूरत नामों के कारण पड़ती है, क्योंकि सेहरे में दूल्हा, उसके पिता और पितामह का नाम यदि आ जाय तो सोने में सुगंधि की सी बात हो जाती है।

लाला जी का नाम भगवान दास है और लड़के का रोशनलाल। कलम-घसीट झट लिखता है :

हुए भगवान के जब दास के तुम दास ऐ रोशन,
तो सेहरे पर निछावर क्यों न हों फूलों भरे दामन।

पितामह का नाम है रूपलाल। कलम-घसीट उस नाम को भी फ़िट करना नहीं भूलता।

मुबारक रूप के इस बाग़ में खिल कर बहार आयी।
लिये फूलों की परियाँ साथ में दीवानावार आयी।।
गुलों में यह सुनहरी तार कैसे जगमगाते हैं।
खिला है रूप का बाज़ार तारे रश्क खाते हैं।

और शेष बन्द वैसे के वैसे उठाकर कलम-घसीट उसमें रख देता है। दूसरे सेहरे को वह कुछ यों लिखता है।

सेहरा तेरा गौहर है
सेहरा तेरा अख्तर है

रुख तेरा मेरे रोशन
इक माहे मुनव्वर है।
क्या हुस्न का पैकर है?

और यों समय से दोनों सेहरे तैयार कर कलम-घसीट वादे के अनुसार दे देता है। बाकी तीस रुपये चूंकि उसे तत्काल मिल जाते हैं, इसलिए ग्राहक को आगे के लिए पक्का करने के खयाल से वह उन पर इतनी मेहरबानी और करता है कि दूल्हे के मित्रों को बुला कर उनमें से दो बांके छरहरों के नाम उन दोनों सेहरों के अन्तिम पदों में फ़िट कर देता है। न सिर्फ़ यह, बल्कि सेहरे पढ़ने की रिहर्सल भी उन्हें अच्छी तरह करा देता है।

● इस काम से निबट कर वह फिर पुराने काम में हाथ लगाता है। शहर में एक बड़ी कम्पनी के मैनेजिंग डायरेक्टर आ रहे हैं। उनके अधीन चीनी की कितनी ही मिलें हैं। शहर के व्यापारियों की सिंडीकेट की ओर से उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिया जा रहा है। उसे लिखने का काम कलम-घसीट के सिर आ पड़ा है। दस रुपये पारिश्रमिक मिलने की आशा है। सिंडीकेट से उसे यदा-कदा काम मिलता ही रहता है, इसलिए पेशगी नहीं माँग सका, लेकिन यदि आगे काम लेना है तो इस अभिनन्दन-पत्र को समय पर देना है। सो वह विदाई-पत्रों, मानपत्रों और अभिनन्दन-पत्रों की फ़ाइल निकालता है और तीन चार को मिला जुला कर एक अभिनन्दन-पत्र तैयार कर देता है।

"मान्यवर,

"हम शहरियों और व्यापारियों के लिए यह कितने सौभाग्य का दिन है कि आप जैसे कर्मठ और योग्य जनसेवी का स्वागत करने का शुभ अवसर हमें प्राप्त हुआ है। हमारे नगर की परम्परा ही त्याग और पर-सेवा की है। उसी उज्ज्वल परम्परा के आप स्वयं एक स्तम्भ हैं। आप को आज अपने बीच पाकर

हम अपने आप को सम्मानित और गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि आपका आगमन हमें सच्ची जन-सेवा के भावों से भर रहा है। यह आपके महान गुणों का ही प्रभाव है कि हम सब आपको विश्वास, दृढ़ता, त्याग और श्रम के रूप में मूर्तिमान देख रहे हैं। आपके इन्हीं गुणों ने आपको व्यक्ति से संस्था बना दिया है।"

और इसी शैली में कलम-घसीट लिखता चला जाता है और मानव के जितने भी गुण वह सोच सकता है वे सब उन मैनेजिंग डायरेक्टर महोदय में दिखा देता है।

'कलम-घसीट आखिर लेखक है, कभी कथा-लेखक और कवि भी रहा है। वह ज़रूर भावुक, अनुभूति-प्रवण, और हस्सास होगा', — उसका कोई मित्र कभी-कभी सोचता है, 'फिर क्या इस सब काम से, जिसे उर्दू के एक हस्सास कवि ने 'ख़िश्त कोबी' याने ईंट पत्थर तोड़ने का नाम दिया है, उसका जी नहीं ऊबता? क्या इस झूठी प्रशंसा, चापलूसी और चटुकारिता की बातें लिखते हुए, बिन देखे लोगों की प्रशस्तियाँ गाते हुए वह अपने आप पर झुँझला नहीं उठता?' और उसका वह मित्र लेखक की भाव-प्रवणता का उल्लेख कर उसके विचार जानना चाहता है।

कलम घसीट के विचार एक से नहीं रहे। कभी जब उसके सपनों का रेशमी पट यों तार तार न हुआ था और उसकी आशा के किले की दीवार मज़बूती से खड़ी थी, वह समाज की सड़ी-गली व्यवस्था को बदल देने के सपने देखता था। "इस व्यवस्था को हम बदलेंगें।" वह घोषणा करता था, "हम कवियों और लेखकों के कंधों पर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है, क्योंकि हम जनता की सेना के टैंक हैं। हम एक तरफ़ विचारों के गोले बरसा कर इस क्रूर व्यवस्था को कायम रखने वाले

शत्रुओं की पंक्ति में अफ़रा-तफ़री पैदा कर देंगे और दूसरी तरफ़ अपनी आलोचनाओं के भारी पहियों के नीचे अव्वाम को गुमराह करने वालों को पीसकर जनता के विजय-पथ को प्रशस्त बनायेंगे।"

पर धीरे-धीरे उसके विचारों की तुन्दी मिटती गयी। उसने अपने आप को तसल्ली दी कि परिस्थितियों की कठिनाई के कारण उसे शत्रुओं से समझौता करना पड़ रहा है। उन्हीं के हथियारों से वह उनको परास्त कर देगा। इन परिस्थितियों पर अधिकार पाकर अपनी इच्छा के अनुसार लिखेगा और दुनिया को नये सिरे से बनाने-सँवारने के अपने चिर-उद्देश्य को पूरा करेगा।

लेकिन इस बात को भी बरसों बीत गये हैं। अब तो कभी वह इन बातों के बारे में सोचता भी नहीं। नया काम जुटाने और हाथ के काम को निबटाने की चिन्ता में दिन रात ग़र्क रहता है। यदि कोई मित्र उसकी आरज़ुओं पर मुद्दतों से पड़ी उस राख को कुरेदना भी चाहता है तो वह सदा हँसकर या मज़ाक करके या बात के रुख को पलट कर उसके प्रयास को असफल कर देता है, क्योंकि उसे यक़ीन हो गया है कि राख के नीचे दबे उसकी आशाओं के अंगारे में, जो शायद बुझते बुझते अब चिनगारी भर रह गया है, इतनी शक्ति भी नहीं रही कि वह दमक कर ज्वाला बन उठे। उसे तो यह भी डर है कि वह राख कुरेदने बैठेगा तो शायद उसके हाथ चिनगारी भी न आयेगी। सो व्यंग्य भरी मुस्कान के साथ वह एक-आध ऐसी सूक्ति से मित्रों की जिज्ञासा शांत कर देता है कि :—

● 'लद्दू जानवर सोचेगा, तो भार कैसे ढोयेगा' ?

या......

● 'मज़दूर का काम मेहनत करना है, फ़लसफ़ा बघारना नहीं'।

या......

'विचार और फ़लसफ़ा भरे-पेट, बेकार, कंधों के बोझ से आज़ाद और भाग्यवान लोगों की ऐयाशी है। हमारे कंधों के बोझ ने दिमाग़ को सोचने की ऐयाशी के योग्य नहीं रखा'। और परम तितिक्षावादी की तरह वह बड़ी से बड़ी राजनीतिक या सामाजिक घटना पर व्यंग्य से मुस्करा कर हाथ के काम को निबटाने में लग जाता है।

लेकिन किसी कवि ने कहा है—

ज़िंदगी आगही
ऑर है बार है
जब तलक रस न हो
जब तलक बस न हो......

चूँकि कवि शायद शाकाहारी है, इसलिए उसने परामर्श दिया है कि विरसता को दूर करने के लिए—

बाग में शौक़ से
संगतरे तोड़ के
उनका रस पीजिए
ऐश यों कीजिए

कलम-घसीट भी निरामिष है, क्योंकि सामिष खाना वह जुटा नहीं सकता। पर उसे इतने संगतरे मयस्सर नहीं कि वह उनका रस पीकर ऐश करे। वह एक संगतरा तभी चूस सकता है जब अपने बीवी-बच्चों के लिए छै साथ लाये। कभी जब पैसे फ़ालतू आ जाते हैं तो वह उन्हें कोई धार्मिक या हास्य-रस की फ़िल्म दिखलाता है। उससे बीवी-बच्चों का मनोविनोद हो तो हो, उसका इतना मनोरंजन नहीं होता कि वह यह इतना भार आसानी से ढो सके। लेकिन रस वह लेता है और मज़े की बात यह है कि अपने कमर तोड़ देने वाले काम से लेता है। वह उससे स्वयं ही रस नहीं पाता, मित्रों को भी देता है।

जब उसके पास समय होता है और काम की जल्दी नहीं होती तो वह मनोविनोद के लिए सेहरों या बधाइयों या आशीर्वादों या अभिनन्दन-पत्रों के विशेष रूपान्तर तैयार करता है और यों उनसे अपना और मित्रों का मनोरंजन करता है। यही जो लाला भगवान दास के सुपुत्र का सेहरा उसने लिखा है उसका विशेष रूपान्तर कुछ यों है :

सेहरा तेरा छप्पर है,
सेहरा तेरा टट्टर है,
रुख तेरा कहूँ गर सच्च,
टूटा हुआ छित्तर है।

बाराती तेरे रौशन,
भालू या बघेले हैं।
औ' तू...मैं तेरे कुरबाँ,
अच्छा भला बन्दर है ॥

और उस अभिनन्दन पत्र का भी दूसरा वर्शन उसके पास है :

"धूर्तवर,

हम शहरियों और व्यापारियों के लिए यह कितने दुर्भाग्य का दिन है कि आप जैसे कामचोर, अयोग्य, जन-घातक का स्वागत करने का संकट हमारे सम्मुख आ पड़ा है। हमारी सिंडीकेट की परम्परा घोर स्वार्थ और बद-दयानती की परम्परा रही है। इसी उज्वल परम्परा के आप एक देदीप्यमान स्तम्भ हैं......"

और इसी शैली में उसने यह अभिनन्दन-पत्र लिख रखा है, जिसमें मैनेजिंग डायरेक्टर और उसका स्वागत करने वाले व्यापारियों का ऐसा खाका खींचा है और वे राज़ की बातें कही हैं कि कलम-घसीट और उसके मित्र इसे पढ़ कर घंटों ठहाके लगाते हैं।

और जब एक चीज़ से तबियत भर जाती है तो वह झट ही ऐसी कोई दूसरी चीज़ तैयार कर देता है। इन कृतियों में दरअसल समाज की ऐसी आलोचना है कि यदि ये छप जायँ तो समाज और उसके स्तम्भ आइने में अपनी सूरत देखकर स्तम्भित रह जायँ और पहली बार उन्हें मालूम हो कि लद्दू जानवर जब दिमाग़ भी रखता है तो क्या-क्या सोचता है।

२५ फ़रवरी ५५

पहाड़ों का प्रेम-मय संगीत

पेड़ों की घनी छाया में पार्टी दायरा बनाकर बैठ गयी। सुबह दस बजे छोटे शिमले से चलकर नौ मील लम्बे रास्ते की चिलचिलाती धूप में जलने और मार्ग की गर्द फाँकने के बाद तनिक विश्राम आवश्यक था, भूख भी कुछ लग आयी थी, इसलिए लाला भोलानाथ और श्री रामलाल ने कुली के सिर से मिठाई और फलों का टोकरा उतरवाया। सब के आगे पुराने समाचार-पत्रों का एक-एक पन्ना रख दिया गया। लाला भोलानाथ ने मिठाई परसनी शुरू कर दी। उसी समय निकट ही पेड़ों के पीछे चलते हुए किसी पंगूड़े में बैठी किसी पहाड़ी युवती ने झूलते समय तान लगायी।

'तुध पिछियाँ मैं होई बदनाम लोका !'*

लम्बी तान, कोयल का सा पंचम स्वर, पहाड़ी गीत, रमणी का युवा कंठ और झूले में झूलते समय की मस्ती ! गीत वायु के कण-कण

*ऐ मेरे प्यारे, मैं तेरे कारण बदनाम हो गया हूँ !

में बस गया। रिक्शा-ड्राइवरों और ग्वालों की मोटी आवाज़ में कई बार पहाड़ी गीत सुने थे, कई बार बारीक स्वर रखने वाले युवकों को भी अपनी आवाज़ के करिश्मे दिखाते देखा था, लेकिन ऐसी लय, ऐसी हृदय-स्पर्शी तान, ऐसी मादक संगीत-लहरी सुनने में न आयी थी।

सहसा बाबू सालिगराम ने मेरे विचारों का सिलसिला तोड़ दिया, "किसके विरह में कूक रही है?"

नीरस क्लर्कों में एक ठहाका गूँजा और फिर सब मिठाई पर टूट पड़े, लेकिन मेरे कान बराबर उस पहाड़ी गीत को सुनने में व्यस्त रहे। कुछ अच्छी तरह समझ में न आ रहा था। हाँ तान का आनन्द लिया जा सकता था, फिर भी जो कुछ समझ में आया, दिल में एक टीस पैदा कर देने के लिए काफ़ी से ज़्यादा था। पहाड़ी गीतों में उर्दू कविता की रदीफ़ और काफ़िये की क़ैद नहीं होती और न छन्द-रचना का चमत्कार देखने में आता है। उनमें हृदय होता है—पहाड़ी युवतियों का सरल हृदय और होते हैं हृदय के सीधे-साधे सुकोमल उद्‌गार। पहाड़ी रमणियाँ अपने सीधे-सरल शब्दों में वह सब कह देती हैं, जो कवि अपनी लालित्यमयी भाषा से भी नहीं कह सकता। शायद इसलिए कि कवि का प्रेम-संसार स्वप्न का संसार होता है और इन कान्तकामिनी युवतियों का वास्तविक। गीत यों है:

'गल्लाँ रियाँ मिट्ठियाँ
दिल्लाँ रियाँ पापने
तुध पिछियाँ मैं होई बदनाम लोका!'[1]

---

१. प्यारे, तेरी बातें तो मीठी हैं, पर तेरे दिल में पाप है। मैं तो तेरे कारण बदनाम हो गयी हूँ।

'थोड़ी-थोड़ी बुरी
मापियाँ री लगदी
सजनाँ दे बुरे अजोग लोका !'[१]

'चिट्टे-चिट्टे कपड़े
भगवें रँगा दे
करि लैणा जोगियाँरा भेस लोका !'[२]

कैसा करुणापूर्ण गीत है ! था तो बहुत लम्बा, लेकिन मुझे याद नहीं रहा। पहाड़ी गीतों में ही क्यों, पहाड़ी वातावरण में, समाज में, सभ्यता में एक बात है और वह है 'रोमांस' (romance) जिस रोमांस के हम क़िस्से पढ़ते हैं, सिनेमा के पर्दे पर देख कर प्रसन्न होते हैं, उसे यदि प्रत्यक्ष देखना हो तो पहाड़ी लोगों में देखिए। जहाँ प्रेम वायु की तरह बहता है, जहाँ पहाड़ी युवतियाँ छिप कर प्रेम के गीत नहीं गातीं, बल्कि दूध के बर्तन उठाये चलती हुई गीत गाती चली जाती हैं। गायों को चराती हुई, ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ कर प्रेम-सने पहाड़ी गीतों से प्रकृति की निस्तब्धता को गुँजा देती हैं। मर्दों की उपस्थिति उन्हें गीत गाने से नहीं रोकती और प्रायः अपने पुरुषों के साथ-साथ, स्वर में स्वर मिलाती हुई, गाती चली जाती हैं। पहाड़ी ग्वाले मार्ग चलते-चलते अपनी बाँसुरी में; पहाड़ी रिक्शा-वाले काम से अवकाश मिलने पर किसी हवाघर में बैठ कर; पहाड़ी चमार जूतियाँ गाँठते-गाँठते किसी ऐसे ही मर्मस्पर्शी गीत को अलाप उठते हैं।

---

१. माँ-बाप का बिछोह दुखदाई होता है, बुरा लगता है, पर वह प्रियतम के बिछोह का क्या मुकाबला करेगा' ?—कैसा कटु सत्य है !—'सजनां दे बुरे बजोग लोका।'

२. अपने श्वेत वस्त्रों को मैं गैरिक रँगा लूँगी और तेरे लिए जोगन का भेस धारण कर लूँगा ?

मुझे किसी अवसर पर सब प्रकार के पहाड़ी गीतों को सुनने की बड़ी अभिलाषा थी, जिनमें वहाँ के लोक-जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद आदि सभी के चित्र हों। इस मौके को ग़नीमत जान मैं उधर को चल पड़ा, जिधर से गीत की ध्वनि आ रही थी।

जहाँ हम बैठे थे, उस स्थान और पंगूड़ों के मध्य पेड़ों का एक झुण्ड था। उसको पार कर मैं पंगूड़ों के सामने जा खड़ा हुआ। कोई दस पंगूड़े एक ही पंक्ति में लगे हुए थे, किंतु चल एक ही रहा था। अभी तक मेला भरा नहीं था। मेले के भरपूर न होने का यह तात्पर्य नहीं कि मेले में रौनक न थी। रौनक़ खूब थी। जूए का बाज़ार ख़ूब गर्म था। भोले-भाले लोग अपनी जेबों को त्वरित गति से खाली कर रहे थे; हलवाइयों की मिठाइयाँ चकाचक बिक रही थीं। पकौड़ी वाले के हाथ भी विद्युत् वेग से चलते थे, किन्तु वह चीज़ न थी जिसे देखने के लिए 'सी-पी के मेले'* में ९० प्रतिशत लोग जाते हैं। अभी तक 'मीना बाज़ार' न लगा था। पहाड़ी मेले में मीना बाज़ार ? जी! लेकिन अभी इतना ही समझ लीजिए कि पहाड़ी युवतियाँ काफ़ी संख्या में अभी न आयी थीं। एक पंगूड़े पर केवल एक पहाड़ी रमणी मुँह पर पाऊडर, ओठों पर सुर्खी और आँखों पर ऐनक लगाये बैठी थी। ऐनक—हाँ ऐनक ही। मैंने आँखें मलीं। मेरे लिए यह अचम्भे की बात थी। जब तक मैं खड़ा रहा, वह बराबर पँगूड़े में बैठी रही, मैंने समझा इसने सीज़न-टिकेट ले रखा है, किन्तु बाद को मालूम हुआ कि वह एक पेशेवर औरत है और पँगूड़े वालों ने उसे आकर्षण के लिए बैठा रखा है। मैं कितनी देर इसी आशा में खड़ा रहा कि वह अब भी अपनी सुरीली तान अलापेगी पर लगता है, पहली गाने वाली कोई और ही थी।

---

* शिमला से ६ मील दूर कोटी रियासत के अन्तर्गत एक पहाड़ी मेला लगता है जिसे सी-पी का मेला कहते हैं।

वहाँ से निराश होकर मैं बायीं ओर को मुड़ा। पहाड़ी स्त्रियों के लिए जो स्थान नियत था, वहाँ केवल दो तीन स्त्रियाँ बैठी थीं। यह जगह ज़रा ऊपर पहाड़ी पर थी। नीचे बिसातियों की सस्ती जापानी चीज़ों की दुकानें लगी थो। यह छोटा-सा बाज़ार था। इसमें अभी अधिक रौनक़ न थी। यह बाज़ार बड़े बाज़ार में मिल जाता था, जिसके आधे भाग में हलवाइयों और आधे में जुए वालों की दुकानें थीं। मैं पंगूड़ों के सामने से हट कर छोटे बाज़ार से होता हुआ ऊपर को चला, क्योंकि मैं उस तिब्बती स्त्री से कुछ पूछना चाहता था, जो बड़ी सरलता से हिन्दी बोलती थी और अंग्रेज़ ग्राहकों को अंग्रेज़ी में उत्तर देती थी।

मार्ग में मुझे एक बाँसुरी वाला पहाड़ी मिला। बाँसुरी पहाड़ियों का अपना साज़ है। यही संगीतमय पहाड़ की जान है। मुझे स्मरण है, अपने देश में जब भी कभी किसी बाँसुरी वाले से भेंट होती तो उससे प्रायः 'पहाड़ी' गाने के लिए ही अनुरोध होता। फिर यह कैसे सम्भव था कि पहाड़ी मेला होता और बाँसुरी-वाला न होता। मुझे कुछ बाँसुरी बजाने का शौक़ है और यद्यपि पाँच वर्षों में कई बाँसुरियाँ तोड़ चुका हूँ, लेकिन हूँ वहीं, जहाँ से चला था। मैंने एक बाँसुरी लेकर उसमें फूँक दी। बाँस की पोरी सुरीली आवाज़ से कूक उठी। शायद इस बात की फ़रियाद कर रही थी कि बाँसुरी वाले कृष्ण के अधरों से लग कर उसे जो आनन्द प्राप्त हुआ था वह अब नहीं होता। बाँसुरी ख़रीदने का मेरा कोई विचार तो था नहीं। मैं तो पहाड़ी गीत सुनना चाहता था, इस ख़याल से कि बाँसुरी वाले को ज़रूर पहाड़ी गीत आते होंगे मैंने उसे बाँसुरी वापस देते हुए कहा :

"क्यों भई, कोई पहाड़ी गीत भी आता है ?"

"बीसों आते हैं !"

मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। मैंने जेब से नन्हीं-सी सुनहरी पाकेटबुक निकाली और कामिनी-सी नाज़ुक श्वेत पेंसिल हाथ में लेकर गीत लिखने को उद्यत हो गया।

पहाड़ी ने मेरी ओर चकित आँखों से देख कर अपनी भाषा में पूछा, "क्या सुनना चाहते हो 'देवरा', 'छोरुआ', 'मोहना' ?

मैं 'छोरुआ' और 'मोहना' सुन चुका था, इसलिए कहा—

"देवरा सुनाओ।"

उसने मेरे निकट होकर एक गीत सुनाया। मैं निस्तब्ध-सा खड़ा रह गया। गीत अत्यन्त अश्लील था। मैंने उसकी ओर देखा। वह हँस रहा था।

"क्यों बाबू जी कैसा रहा ?"

मैंने कहा—"कोई सीधा-साधा गीत सुनाओ। गन्दा नहीं चाहिए!"

पहाड़ी ने एक बार फिर मेरी ओर देखा और हँसता हुआ चला गया। मैं खिन्न-मन-सा कुछ देर चुपचाप खड़ा रहा, फिर मैंने पॉकेटबुक पुनः अपनी जेब में रख ली। शायद बाँसुरी-वाले ने अपना बहु-मूल्य समय मुझ-जैसे ना-समझ और ना-क़दरशनास के लिए गँवाना उचित नहीं समझा। न मैंने उससे बाँसुरी खरीदी, न उस के गीत की प्रशंसा की। उस गीत का पहला पद्य आज भी मेरी डायरी में उसी प्रकार लिखा हुआ है और उस पृष्ठ पर १० जून, १९३४, की तारीख है, जिस रोज़ कदाचित् हम लोग मेला देखने गये थे। पद्य यों है—

'भाभी न्हान गयी नरकंड।'

इसके आगे अश्लील था। बाँसुरी वाले को जो और बीसियों गीत आते थे, वे भी इस गीत से बेहतर न होंगे, इसका मुझे पूरा विश्वास है। कदाचित् 'छोरुआ' और 'मोहना' के गीत ऐसे अश्लील नहीं,

पर 'देवरा' के गीत प्रायः इतने भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी नहीं। एक दो नमूने जो बरड़ियों* के मुँह से सुनने में आये देता हूँ—

भाभी चली गयी है दूर,
पेटे पीड़ कलेजे सूर,
अरकी नेड़े शिमला दूर,
हकीम लियायीं देवरा
देवरा—वे—लोभिया !' [1]

और एक दूसरा नमूना है—

बागे लानीआं मैं तूत,
चिट्टा-चिट्टा रूँ दा सूत,
मैं गजरेटी तूँ रजपूत,
जोड़ी मिल गयी वे देवरा
देवरा—वे—लोभिया !' [2]

इस पहाड़ी मेले में खास तौर पर और दूसरी जगह आम तौर पर आपको बरड़ियाँ दिखायी देंगी। इन में वृद्धा और युवा दोनों शामिल होती हैं। पेशे के लिहाज़ से ये बिन्ने बनाती है, किन्तु प्रायः माँगना ही इनका काम है। परमात्मा ने इन्हें रंग चाहे अच्छा न दिया हो, पर नक्श देते समय कंजूसी से काम नहीं लिया। स्वर तो इनका जादू भरा

*पहाड़ों में गाने वालियाँ।

१—ऐ देवर, तेरी भौजाई (तेरे साथ सैर करते-करते) दूर निकल आयी है, इसके पेट में ज़ोर का दर्द उठा है और कलेजे में शूल उठ रहा है, यहाँ से अरकी (पहाड़ी कसबा) समीप है और शिमला दूर है, तू शीघ्र हकीम अथवा वैद्य को ले आ—ऐ मेरे लालची देवर !

२—उद्यान में शहतूत के वृक्ष लगाये जाते हैं, रुई का श्वेत सूत उतरता है, ऐ मेरे लालची देवर, मैं गुजरी हूँ और तू राजपूत है, हमारी तुम्हारी जोड़ी खूब मिल गयी है !

होता है। ये गाती और माँगती फिरती हैं। बिगड़े दिल लोग इन्हें बैठाकर गाना सुनने के साथ अपनी आँखों और विलासी हृदय की प्यास भी मिटा लेते हैं। वे हर तरह के व्यंग्य को मुस्कान में टाल देती हैं और प्रायः ऐसे लोगों की जेबें खाली कर जाती हैं। इनके सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु मैंने यह देखा है कि जहाँ किसी ने ज़रा भी छेड़खानी करने की कोशिश की, वे नौ दो ग्यारह हो गयीं।

'सी-पी' में भी इनकी दो-तीन टोलियाँ आयी हुई थीं। मैं बाँसुरी वाले की मूर्खता से निराश होकर आगे चलने ही को था कि मेरे कानों में बड़ी बारीक मनोमुग्धकारी आवाज़ आयी। नज़र उठा कर देखा तो बाज़ार से ज़रा ऊँचे, पहाड़ी पर, एक पेड़ के तले कुछ बरड़ियाँ गा रही थीं। एक-दो ने कानों पर हाथ रख लिया था—कमर में लँहगे, गले में कमीज़ें, उन पर जाकटें, सिर पर रँगे हुए दुपट्टे, कानों में बालियाँ, काले मुख उबटन से चमकाये हुए, अधरों पर दातुन का गहरा रंग, तीखे नक्श, छातियाँ तनी हुईं, श्याम वर्ण के बावजूद आने-जाने वालों को आकृष्ट कर रही थीं। वे सब मिल कर जादू भरे गले से गा रही थीं और आने-जाने वालों को दबी आँखों से देख भी लेती थीं।

मैं उधर चल पड़ा।

एक-दो सिक्खों, दो-एक पहाड़ियों और तीन-चार दूसरे मूक दर्शकों के घेरे में बैठी हुई वे तान पर तान अलाप रही थीं। चार युवा थीं, एक बूढ़ा। मैं इस टोली के पीछे जाकर खड़ा हो गया। उस समय वे एक सिक्ख की जेब से पैसे निकालने की कोशिश कर रही थीं, लेकिन सरदार साहब मुफ़्त में मज़ा लेने वालों में से थे। गीत को बीच ही में बन्द कर के एक ने, जो सबसे सुन्दर थी, कटाक्ष के तीर छोड़ते हुए कहा—

"दो न सरदार साहिब! एक-दो पैसे दो, 'वाहगुरू' आपका भला करे!"

"एक-दो क्या, आठ आने लो, रुपया लो, पर जो मैं कहता हूँ वह भी तो करो !"

"आप क्या कहते हैं ?"—एक युवती ने मुस्करा कर कहा ।

"हमारे साथ चलो !" और इसके साथ ही सरदार साहब ने आँख का इशारा किया, "यहाँ दिन भर में भी एक रुपया न मिलेगा।"

बरड़ी ने कुछ शरमा कर, कुछ हँस कर उनकी ओर से मुँह फेर लिया और एक सिपाही की ओर देख कर बोली—

"थानेदार साहब, आप ही एक-दो पैसा दें। परमात्मा आपका इक़बाल दूना करे।"

'थानेदार साहब' केवल मुस्करा दिये ।

इस बीच में एक की दृष्टि मुझ पर पड़ गयी। उसने उस युवती को मुझ से माँगने का इशारा किया ।

वह मेरी ओर मुड़ी।

"बाबू साहिब, आप ही कुछ मेहरबानी करें, परमात्मा आपको पास करे, नौकरी दिलाये !"

भारतवर्ष के युवकों में बढ़ी हुई बेकारी की बात उन बरड़ियों तक भी पहुँच गयी थी। इसीलिए उन्होंने दो ही बातें कहीं। उनके निकट मेरी उमर के युवक को या पढ़ना चाहिए या बेकार घूमना ।

वे सरदार साहब मेरे आगे बैठे थे। उन्होंने पलट कर मेरी ओर देखते हुए उससे कहा :

"हाँ, ये अवश्य देंगे। इनकी जोड़ी भी तुमसे मिलती है !"

बरड़ी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। मैं कुछ खिन्न-सा हो गया, हँसा अवश्य, किन्तु मैं न हँस रहा था, मेरी लज्जा हँस रही थी ।

"पहले कुछ सुनाओ भी !" मैंने हैट उतार कर घुटने पर रखते हुए कहा ।

मेरे कहने के साथ ही उनका समवेत स्वर वायु में गूँज उठा—

'ओ ताँ जान करन कुरबान, जिन्हाँने दर्शन पालये ने !'*

मैंने उन्हें रोक कर कहा—"यह नहीं, यह तो मैंने देश में भी बहुत सुने हैं, कोई यहाँ का गीत सुनाओ"—'छोरुआ', 'मोहना' या कोई और।"

बरड़ियों ने कानों पर हाथ रखे और 'छोरुआ' गाने लगीं। 'छोरुआ' सब पहाड़ों में गाया जाता है। गाँव गाँव में इसके गाने के अलग-अलग तरीके हैं। उन्होंने जो गीत सुनाया वह यों था—

बाह्मणा दा छोरुआ ओ !
शिमले न जाना मंगी खाना,
तू तो बेईमान बनिया।[1]

बाह्मणा दा छोरुआ ओ !
देश बगाना नीवें चलना,
तू तो बेईमान बनिया।[2]

बाह्मणा दा छोरुआ ओ !
रुसी के न जाईं मेरे जानियाँ,
तू तो बेईमान बनिया।[3]

---

*(एक पंजाबी गीत) जिन्होंने तुम्हारे दर्शन किये हैं, वे अपनी जान न्योछावर कर सकते हैं।

१. ऐ ब्राह्मण युवक ! तू शिमले न जा, हम यहाँ माँग कर निर्वाह कर लेंगे। तू बेवफ़ा निकला, जो मुझे यहाँ छोड़ कर शिमला जाने को तैयार हो गया।

२. (दोनों कहीं भाग जाते हैं—प्रेयसी कहती है :) ऐ ब्राह्मण युवक, यह पराया देश है, यहाँ अकड़ कर नहीं, नम्रता से चलना चाहिए।

३. ऐ ब्राह्मण युवक, मुझ से रूठ कर न जा, मेरे जानी, बेवफ़ा न बन।

'छोरुआ' की एक और तर्ज़ जो मैंने एक पहाड़ी के मुँह से सुनी थी, यों है—

ब्राह्मणा दा छोरुआ—ओ बेईमाना !
तूँ तो टुर गयों छोटे शिमले जू
मेरी रोंदी दे भिज गये तिन्ने कपड़े,
ओ बेईमाना,
ब्राह्मणा दा छोरुआ—ओ बेईमाना !'[1]

पिछले ज़माने में जब लड़ाई-भिड़ाई के दिन थे, रास्ते ऊबड़-खाबड़ और दुर्गम थे, चोर और डाकुओं का डर बना रहता था और जो लोग परदेश जाते थे, उनके आने का ठिकाना न होता था, तब देश की युवतियाँ, नव-विवाहिता वधुएँ, अपने प्रेमियों और पतियों को परदेश जाने से रोकती थीं। उनकी जुदाई से उनकी आत्मा सिहर उठती थी। महायुद्ध के समय के ऐसे अनेक गीत पंजाब में मौजूद हैं। देखिए, अपने प्रियतम की जुदाई में पंजाबी दुलहन रो कर, सिहर कर, किस प्रकार उसकी शिकायत करती है—

'देखो सय्यो नी मेरा ढोल कमला,
मेरा ढोल कमला,
आर गंगा नी सय्यो पार जमुना,
सय्यो पार जमुना,
विच बरेती धक्का दे नी गया सी !'*

---

१. ऐ बेईमान ! (प्यार के साथ प्रेमी को बेईमान, अर्थात् बेवफ़ा कहा है।) तू तो छोटे शिमले चला गया, किन्तु तेरे वियोग में रोते हुए मेरे तीनों वस्त्र भीग गये।

* ऐ मेरी सखियो, तुम यहाँ आओ तो देखो कि मेरा भोला स्वामी मुझे कहाँ छोड़ गया है—इस पार गंगा है, उस पार जमुना है और वह मुझे बरेती (पुलिन-नदी के पानी के बीच निकली हुई सूखी जगह) में धक्का दे गया है।

प्रेयसी के लिए अपने प्रियतम की उपस्थिति के आगे नौकरी कोई महत्व नहीं रखती। अपने प्रेमी के साथ वह फ़ाक़ों रहकर भी गुज़ारा कर सकती है; यह खयाल कि सौ योजन पर बैठा हुआ उसका पति सौ रुपया महीना कमा लेगा, उसे तनिक भी सान्त्वना नहीं देता। वह उसकी जुदाई की कल्पना से ही विह्वल होकर पुकार उठती है—

'बीबा न जा!
वे मैं हरदम नौकर तेरियाँ
बीबा न जा,
वे बीबा न जा!'

हाँ तो जब उसकी प्रेमिका प्रतिक्षण उसकी सेवा में हाज़िर रहने को तैयार है, उसकी नौकरी बजाने को तैयार है तो फिर उसे नौकरी पर जाने की क्या ज़रूरत है?

कुछ इसी प्रकार की दशा पहाड़ी युवतियों की भी है। शिमले के मौसम में निर्धन पहाड़ी युवक आजीविका कमाने के निमित्त पाँच-छः महीनों के लिए शिमला आ जाता है। उसके वियोग की कल्पना-मात्र से पहाड़ी प्रेयसी अलाप उठती है—

'शिमले न जाना, भंगी खाना!'

काँगड़े के पहाड़ में जिस प्रकार 'छोरुआ' गाया जाता है, वह भी सुनिए—

बाह्मणा दा छोरुआ ला तेरे ताईं लोकी कहंदे कंजरी!
भला ओ साजन मेरिया ला,
तेरे ताईं लोकी कहंदे कंजरी,
बाह्मणा दा छोरुआ!'‡

‡ ऐ ब्राह्मण युवक! तुमसे प्रेम करने के कारण लोग मुझे वेश्या कहते हैं। मेरे प्रियतम! तुझ से प्रेम करने के कारण लोग मुझे वेश्या कहते हैं। ऐ ब्राह्मण युवक!

लम्बी तानें और दर्द भरे गीत जिनमें पहाड़ी युवतियों के हृदय के उद्‌गार होते हैं, उन्हीं के मुँह से सुनने योग्य हैं। उन्हें सुनते हुए कौन ऐसा मनुष्य है, जो मन्त्र-मुग्ध नहीं रह जाता। चाहे खाक भी समझ न आ रहा हो, किन्तु तानें कुछ ऐसी हृदय-स्पर्शी हैं, स्वर कुछ ऐसा मादक है और उनके गाने का ढंग कुछ ऐसा निराला है, कि आदमी गुम-सुम खड़ा सुनता है, उस का हृदय गीत की तान के साथ उड़ता रहता है।

तीन-चार पद सुना कर ही ग्वरड़ियों ने गीत बन्द कर दिया और पैसा माँगने लगीं। मैंने उनसे कहा, "एक-दो बन्द और सुनाओ।"

"यह इतना ही है।"

मैं जानता हूँ, गीत बहुत लम्बा है, पर शायद उन्हें आता ही न था या वे मुझे सुनाना न चाहती थीं। खैर मैं ने एक पैसा फेंक दिया और कहा—अब 'मोहना' सुनाओ!—और 'मोहना' फ़िज़ा में गूँज उठा।

उन गीतों में जो इधर की पहाड़ियों में लोकप्रिय हैं, 'मोहना' सबसे प्रसिद्ध है। इसके अलाप की भी अलग-अलग गाँव की अलग-अलग रीतियाँ हैं, लेकिन सब आकर्षक और मनमोहक!

इस गीत का अपना छोटा-सा इतिहास भी है। कई तरह की किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों का कहना है कि मोहना एक सुन्दर बलिष्ठ पहाड़ी युवक था। उसकी स्त्री को किसी पदाधिकारी ने छेड़ा। मोहना इस बेइज़्ज़ती को सहन न कर सका, उसने उस अफ़सर की हत्या कर दी। मोहना को फाँसी मिली। पहाड़ी लोगों ने उसे शहीद का दर्जा दे दिया। इधर उसे फाँसी मिली उधर घर-घर उसके नाम के गीत गूँज उठे।

• किस वजनी वो मोहना किस वजनी,
तेरी बन्दावाली बंसी मोहना, किस वजनी ।[1]
• चन्ने पिपली वो मोहना चन्ने पिपली,
तेरे वो बजोगे बोल, बाहरे निकली ।[2]
• तूँ नहीं दिस्सदा वो मोहना तू नहीं दिस्सदा,
मेरा पाइया-पाइया लहुआ, रोज़े सुकदा ।[3]

लेकिन कुछ लोगों का खयाल है कि मोहना अविवाहित था और पदाधिकारी की हत्या उसके भाइयों ने की थी। वे सब बाल-बच्चों वाले थे और उनके फाँसी पाने के बाद उनके बाल-बच्चों का क्या हाल होगा, इस खयाल से मोहना ने अपने आपको भाइयों के लिए परोपकार की वेदी पर चढ़ा दिया था। उसने कह दिया कि यह हत्या उसने की है। उसके भाई बच गये, पर वह फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया। कई गीतों में इस बात का भी ज़िक है—

• तखते चढ़ी गया वो मोहना तखते चढ़ी गया,
बोल सुन्दर सिलोना मोहना तखते चढ़ी गया ![4]

दोनों कहानियों में अन्तिम कहानी अधिक सच्ची मालूम होती है। और अधिकांश पहाड़ी लोग भी 'मोहना' के सम्बन्ध में यही कथा सुनाते हैं और अक्सर गीत भी इसी कहानी का समर्थन करते हैं। जैसे—

---

१. ऐ मोहन, अब तेरी सुन्दर बन्दों वाली बाँसुरी कौन बजायेगा ?

२. पिछवाड़े पीपल का पेड़ है, मैं तेरी जुदाई से तंग आ कर जंगल को चल पड़ी हूँ।

३. तू कहीं भी दिखायी नहीं देता और तेरी जुदाई में मेरा पाव-पाव भर लहू रोज सूखता चला जाता है।

४. हाय, मोहन फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया, सुन्दर सलोना मोहन फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया।

● खायी लै बबरू वो मोहना खायी लै बबरू,
अपनी भाभियाँ दे हत्थां दा वो खायी लै बबरू।[१]
● तखते चढ़ी गया जी मोहना तखते चढ़ी गया,
अपने भाइयाँ दे वो कारणे मोहना तखते चढ़ी गया।[२]

लेकिन जिस तरह पंजाब का हर प्रेमी राँझा है और हर प्रेयसी हीर, इसी तरह पहाड़ का हर युवक मोहन है और हर युवती उसकी भाभी! पहाड़ी प्रेमिका, अपने प्रेमी के विरह में मोहन के नाम से गीत गाती है। इस गीत के बीसियों बन्द हैं। मैंने बरड़ियों के मुँह से जो सुने, वही यहाँ दे रहा हूँ।

● तेरे दरदे वो मोहना तेरे दरदे,
बोल, गला मेरा कटिया पैनीये करदे।[३]
● फुल्ली दड़ने वो मोहना फुल्ली दड़ने,
बोल, खाया मेरा कालजा वो तेरे झड़ने।[४]
● खाना मऊरा जी मोहना खाना मऊरा,
एस पापिए नहीं रहना वो ठल्ली दे शाहुरा।[५]

---

१. भौजाइयाँ, उसके मृतक शरीर को देख, रो कर कहती हैं—ऐ मोहन! एक बार उठ और अपनी भौजाइयों के हाथ का बबरू (मोटी रोटी) तो खा ले।

२. अपने भाइयों के कारण मोहन फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया।

३. ऐ मोहन, तेरी जुदाई का दर्द मेरे गले को तेज छुरी की तरह काट रहा है।

४. ऐ मोहन, दड़न (झाड़ी विशेष) फूल रही है, तेरा रुमाल मेरे दिल को बड़ा सुन्दर लग रहा है।

५. मधु खाने का मौसम आ गया। यह पापी युवक (देवर पर व्यंग्य किया गया है) इस बहार में तंग करेगा, इसे सुसराल ढूँढ़ दो।

इन सीधे-साधे गीतों में कितना प्रेम, दर्द, कितनी टीस, और कितनी हसरत है !

पहाड़ी गीतों में 'छोरुआ', 'मोहना', 'लोका', 'देवरा' ही अधिक लोकप्रिय हैं और इसीलिए उल्लेखनीय भी ! लेकिन पहाड़ों में नाटियाँ भी गायी जाती हैं। लालित्य और सौन्दर्य के विचार से ये भी किसी पहाड़ी गीत से कम नहीं। इनमें स्वर का उतार-चढ़ाव अधिक होता है—कभी तार (सप्तक) तक उठ जाने वाला और कभी मध्यम से भी नीचा। कभी ऐसे जैसे नदी की लहरों पर तैर रहा हो और कभी ऐसे जैसे पहाड़ की चोटी पर उड़ा आ रहा हो। किसी नाटी को एक बार सुन कर उसे स्वर, तान और लय में गाना प्रायः असम्भव है। पहाड़ी नाटियाँ अधिकतर प्रेम, प्रियतम के साथ भाग जाना, बिरह का दुख और इसी प्रकार के विषयों पर मिलती हैं। हो सकता है, दूसरे विषयों पर भी गीत गाये जाते हों, पर मैं यहाँ वही चीज़ें दे रहा हूँ, जो मैंने बरड़ियों के मुँह से सुनीं और यह भी हो सकता है कि बरड़ियाँ वही गीत गाती हों जो अधिकांश सुननेवालों को अच्छे लगते हैं। मैं गीतों की खोज तो कर न रहा था, यह तो संयोग था कि मुझे ये गीत सुन पड़े, नहीं यदि मैं 'सी-पी' के मेले में न जाता तो शायद कभी यह सब सुनने को न मिलता।

उस समय जब बरड़ियाँ 'मोहन' गा रही थीं, उनकी एक दूसरी टोली कुछ परे बैठी दो शराबियों के मनोरंजन का सामान कर रही थी। तीनों युवा थीं। एक ज़रा अधिक सुन्दर थी। पुरुष ने शराब का 'पेग' पी कर उसी को पान दिया, उसने पान ले कर खा लिया। फिर उसने नशे में मस्त होकर उसकी ओर हाथ बढ़ाया, उस समय तीनों वहाँ से भाग खड़ी हुईं। पैसे वे पहले ही ले चुकी थीं। तीनों ही आकर हमारे पास खड़ी हो गयीं। ये नाटियाँ उन्होंने सुनायीं। दो नाटियाँ मैं यहाँ देता हूँ—

१— ● चाँदीरी चुलटी, सोईने री गट्ठी,
तोसे बोले चातिरो
लल्ले भोंईदिए बैठिए, मेरिए री नैह्निएँ ! [1]
जाखे देया पंडिता, खोली पत्री साँचा,
ऐसी देनी साहतो
कद्दे पट्टनी जानटा, मेरिया वे साजना ! [2]
● तारिबो रे ढाकोदे झोले गोने दे माऊ,
माटी हेठ मैं वो सारिगो
ताहरे फड़के आवो, आवो मेरिए री नैह्निएँ ! [3]
● छाय बीचरा छाछुआ, दुध बीचरा खोया,
सच बोले साजना
कूनी म्हारा ज्युरा छड़ोया, मेरिया वो साजना ! [4]

दूसरी नाटी इस से सरल है :—

१—पथिक पूछता है, ऐ युवती, तेरी अँगीठी तो चाँदी की है और चूल्हा सोने का है, फिर तू धरती पर क्यों बैठी है। हाँ री नैह्नी तू धरती पर क्यों बैठी है।

२—नैह्नी कहती है—जाकू (शिमला की सब से ऊँची चोटी, जहाँ हनुमानजी का मन्दिर है) के पंडित से जाकर पूछ कि वह सच्चा ज्योतिष लगा कर ऐसी साहत बताये जब कि मैं यहाँ से उठूँ (तात्पर्य यह है कि जाकू के पंडित से पूछ कि कब मेरा प्यारा आयगा और कब मैं यहाँ से उठूँगी। क्योंकि मैं उसी की प्रतीक्षा कर रही हूँ। हाँ ऐ साजन जाकू के पंडित से जाकर पूछ।

३—प्रेमी कहता है; 'ऐ मेरी प्यारी, तेरे और मेरे मध्य तारादेवी का टीला (पहाड़ी) है, जहाँ मधुमक्खियों ने छत्ते बना रखे हैं, परन्तु मैं इस पहाड़ी में सुरंग (बोगदा) बनाकर तेरे आलिंगन में आजाऊँगा। हाँ मेरी नैह्नी मैं सुरंग लगा कर तेरे पास आजाऊँगा।

४—जससा का शेष छाछ होती है और दूध का शेष रह जाता है खोया, ऐ मेरे साजन, सच बता मेरा दिल किस ने छीना है?

२ मूशी दे हाथों दा काली डांडिये छाता
बोल, कूनी पायी चूगली वो, कूनी दीता पाता
हाय बाबू रेंजरों कूनी दीता पाता।[1]
बानरे रा हालटो वो, लोहे रे न फाले
टोपी पायी पाकटे गरारा टाँगे डाले
हाय बाबू रेंजरो गरारा टाँगे डाले।[2]
'शाक चंगे भुलका, धनिया रे न डाले
म्हारे जाने नठेरो बाबा देगा गाले!
हाय बाबू रेंज रो वो बाबा देगा गाले[3]

कहानी यों है कि मूशी (एक युवती) रेंजर के साथ भाग गयी है। किसी ने उसके रिश्तेदारों को उनका पता दे दिया। रेंजर और मूशी पकड़े गये। रेंजर को खूब पीटा गया। उसे कष्ट में देखकर मूशी चुगली खाने वाले को कोसती है और रो कर कहती है :

'कूनी पाई चूगली, वो कूनी दीता पाता।'

१—मूशी के हाथ में काली डंडी की छतरी है, वह रेंजर से कहती है कि हाय प्यारे, हमारे भागने का किस पापी ने पता बता दिया, किसने हमारी चुगली खायी?

२—दूसरे पद्य में वहाँ के देहाती जीवन की तस्वीर है, मूशी फिर काम-काज में लग गयी है—बन की लकड़ी का हल है, उसमें लोहे का फल लगा हुआ है, मूशी ने टोपी जेब में डाल ली है और गरारा वृक्ष की डाली पर टाँग दिया है, पर रेंजर की याद उसका पीछा नहीं छोड़ती।

३—तीसरे पद्य में वह घर के काम-काज में व्यस्त दिखायी गयी है। भुलका की तरकारी बनाती है, पर ध्यान तो उसका अपने प्रेमी की ओर लगा हुआ है। शाक में धनिया डालना भूल गयी है, इसलिए कहती है—मैंने शाक बनाया है, शाक तो अच्छा बन गया है पर उसमें धनिया डालना ही भूल गयी हूँ। अब बाबा मुझे गाली देगा। मुझसे तो यह काम न होगा, मैं तो भाग जाऊँगी; हाँ प्यारे रेंज, बाबा गाली देगा मैं भाग जाऊँगी।

इधर के पहाड़ों में, जैसा कि मैंने कहा, पहाड़ी-गीत प्रेम और इससे सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर ही सुनने में आते हैं। ब्याह शादी पर, पानी भरते, चक्की पीसते, खरास चलाते और गायें हाँकते समय भी पहाड़ी स्त्रियाँ अपनी सुरीली आवाज़ में अवश्य ही सुन्दर गीत गाती होंगी; पर वे कैसे होते हैं, यह मैं नहीं जानता, उनका संग्रह तो अच्छी तरह खोज करने के बाद ही किया जा सकता है। मैंने जो गीत सुने, वे आम गाये जाने वाले रोमानी गीत थे। उन्हीं को मैंने यहाँ संकलित कर दिया है।

२० मई १९३५

रंगमंच के व्यावहारिक अनुभव

प्रायः मैं अपना नाटक रेडियो पर नहीं सुनता। मेरे लगभग सभी नाटक रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से ब्रॉडकास्ट हो चुके हैं, पर उनमें से दो-चार ही को मैंने सुना है। यही हाल रंगमंच का है। दूसरे नगरों में स्टेज होने वाले एकांकियों को जाकर देखने की (निमन्त्रण सदा मिलते रहे हैं) बात तो दूर रही, अपने शहर में होने वाले नाटकों को भी मैं प्रायः नहीं देखता।

मेरी इस वितृष्णा का कारण रेडियो या रंगमंच से मेरी बेदिली नहीं। रेडियो के माध्यम को मैं बड़ा सबल माध्यम मानता हूँ और रंग-मंच का मुझे जैसा शौक है, उसे सभी जानते हैं।

इस अन्यमनस्कता के कारण पर जब विचार करता हूँ तो लगता है कि जैसे मैं डरता हूँ—डरता हूँ कि कहीं खेलने वाले नाटक का सत्यानास ही न कर दें। ऐसे न खेलें कि उनके अभिनय की अनगढ़ता में उसका मुख्य उद्देश्य ही खत्म हो जाय!

और मुझे शुरू-शुरू की एक घटना याद आती है :

शायद १६३८ की बात है। लाहौर में नया-नया रेडियो स्टेशन खुला था। मैंने कुछ दिन पहले अपना पहला नाटक 'पापी' लिखा था और मुझे वह बड़ा पसन्द था। किसी मित्र के कहने पर मैंने वह रेडियो में भेज दिया। वह स्वीकार हो गया और सबसे बड़ी बात यह हुई कि एक दिन जब मैं स्टेशन पर गया तो मुझे मालूम हुआ, प्रसिद्ध एक्टर हीरालाल उसमें काम कर रहे हैं। हीरालाल चाहे अब एक कैरेक्टर एक्टर हैं, पर तब वे एक फ़िल्म में नायक का रोल कर रहे थे। नाटक के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने के लिए वे मुझसे मिलने आये। साथ उनके एक सुन्दर लड़की भी थी। उन्होंने कहा, "नाटक मुझे बहुत पसन्द है और मैं शान्तिलाल का रोल ऐसे अदा करूँगा कि आपको लुत्फ़ आ जायगा!" एक दो डॉयलाग उन्होंने बोल-कर भी दिखाये। फिर उन्होंने अपने साथ वाली लड़की की ओर संकेत करते हुए बताया कि 'छाया' की भूमिका में ये काम करेंगी और वे उन्हें ऐसा ट्रेण्ड कर देंगे कि सुनने वाले दंग रह जायँगे। ओठों के आगे हाथ रखकर उन्होंने यक्ष्मा की कृश-काय रोगिनी की खाँसी की नकल की। उनके सिखाने पर जब लड़की ने वैसे ही खाँसा तो मुझे रोमांच हो आया और मैंने तय कर लिया कि मैं यह नाटक जरूर सुनूँगा।

मैं उस समय जिस वातावरण में रहता था, उसमें अपने यहाँ तो दूर, किसी मित्र अथवा पड़ोसी के यहाँ भी रेडियो न था। नाटक की रात मैंने अपने दो-एक मित्रों को साथ लिया और दो मील चल कर शिमला पहाड़ी के पास रेडियो स्टेशन पहुँचा। विज़टर्ज़ रूम में लाउड स्पीकर दीवार से लगा था, कुर्सियाँ उसके पास घसीट कर हम बैठ गये, तभी एलान के बाद छाया की कमज़ोर आवाज़ सुनायी पड़ी और वह खाँसी—पहले वाक्य ही ने मन के तार झनझना दिये और

उस खाँसी ने शरीर को कँपा दिया। हीरालाल ने बड़ा सुन्दर निर्देशन किया था।

हीरालाल की आवाज़ भी बड़ी गहर-गम्भीर और प्रभावशाली थी—ट्रेजेडी के उस अहसास के बावजूद नाटक की सफलता से मन में हलकी सी खुशी का आभास भी था कि एक मोटी भद्दी आवाज़ आयी – "क्या हो रहा है, क्या होने वाला है, मैं तो तीमारदारी करने आयी थी......"

और लगा कि जैसे किसी ने सीने में घूँसा मार दिया। 'पापी' की 'रेखा' तेरह-चौदह बरस की लड़की है। लेकिन आवाज़ से लगता था कि बोलने वाली तीस-पैंतीस बरस की है, मोटी और अनपढ़ है। लहजा उसका एकदम पंजाबी था और शब्द 'तुम्हारे' को वह बड़े बेतुकेपन से 'तुमारे', 'तुमारे' बोलती थी।

उन दिनों ज़रा सी बात मेरी नींद हराम करने के लिए काफ़ी थी। नाटक के इस उलटे छुरे या यों कहा जाय कि मोटी उलटी छुरी से ज़िबह किये जाने से मुझे कितनी तकलीफ़ हुई, इसका अन्दाज़ आप इस बात से कीजिए कि वह कसक अब भी बाकी है। इस बीच रेडियो की अपनी नौकरी के दिनों में मैंने अन्सार नासरी द्वारा 'चिलमन', रफ़ी पीर द्वारा 'सुबह-शाम' (अंजो दीदी) और पिछले दिनों अचानक एस० एस० एस० ठाकुर द्वारा निर्देशित 'जय पराजय' सुना है और उनके निर्देशन में मुझे कहीं त्रुटि दिखायी नहीं दी। इतने सुन्दर सुनिर्देशित नाटकों को सुनना बड़ा सुख देता है। पर सुख का यह अहसास पहली असफलता की उस टीस को नहीं मिटा सका और न ही मुझे नाटक सुनने की प्रेरणा दे सका। पहली असफलता का अहसास भी पहले प्रेम सरीखा है और दिल में न जाने कैसा घाव कर देता है जो कभी नहीं भरता।

रहा स्टेज का नाटक—तो इस बीच में बीसियों जगह मेरे एकांकी खेले गये हैं, पर दो अवसरों को छोड़कर मैं कभी अपना नाटक नहीं देखने गया। यद्यपि अपने नाटक को स्टेज पर वैसे ज़िबह होते मैंने कभी नहीं देखा, लेकिन नाटक लिखना शुरू करने से बहुत पहले मैंने वह घटना पढ़ी थी, जब प्रसिद्ध रूसी नाटककार चैखव ने अपना पहला नाटक 'सी-गल' (सागर-हंसिनी) देखा था और घोर निराशा में वह हाल से भाग गया था। चैखव की प्रेयसी लिडिया एवीलौव ने अपने संस्मरणों में उसका बड़ा दर्द भरा वर्णन किया है। मुझे उस स्थल पर सदा लगता है कि चैखव नहीं स्वयं मैं ही वहाँ था, वह नाटक मेरा ही था, जिसे एक्टरों, आलोचकों और प्रतिद्वन्द्वी दर्शकों ने क़त्ल कर दिया। और चैखव—वह इतना निराश हुआ कि राजयक्ष्मा का शिकार हो गया।

और मैं कभी अपना नाटक देखने नहीं गया। नाटकों के सूक्ष्म (Subtle) भाग साधारण एमेच्चर अभिनेताओं के बस के नहीं होते और उन्हें ज़िबह होते देखना अपने ही बच्चों को अपने ही सामने ज़िबह होते देखने के बराबर है।

लेकिन गत दो-तीन वर्षों में न केवल मुझे अपने नाटक देखने को बाध्य होना पड़ा, बल्कि उनमें योग भी देना पड़ा है। १९५१ में प्रयाग विश्वविद्यालय के म्योर हॉस्टल की ड्रामेटिक एसोसिएशन ने मेरा नाटक 'छठा बेटा' चुना। ये दो घंटे का नाटक खेल न सकते थे और काट-छाँट कर एक घंटे का बनाने में बहुत से सम्भाषण काटने पड़ते थे और मुझे खासा बुरा लग रहा था। लेकिन एमेचर-नाटक-आन्दोलन में काट-छाँट कर ही सही, नाटकों का खेला जाना मैं ज़रूरी समझता हूँ। नाटकों का ठीक प्रस्तुतीकरण अभीष्ट है, पर वह तभी होगा जब पहले नाटक करने और देखने की प्रवृत्ति देश भर में जगेगी। 'शॉ' के बारे

मैं सुनता हूँ कि वे घंटों अपने नाटकों की रिहर्सलें कराते थे, कहाँ किसको खड़ा होना है, कहाँ से कौन सम्वाद बोलना है, छोटे से छोटे ब्योरे का वे ध्यान रखते थे। नाटककार की हैसियत से, विशेष कर ऐसे नाटककार की हैसियत से, जिसे रंगमंच ही का नहीं, अभिनय का भी अनुभव हो, मैं ऐसा न चाहता होऊँ, यह बात नहीं, पर भारत और इंग्लिस्तान की परिस्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। वहाँ रंगमंच की परम्परा भारत की तरह एकदम कभी नहीं खोयी। यहाँ जैसा शून्य वहाँ कभी नहीं हुआ। फिर वहाँ एमेचर रंगमंच यहाँ की अपेक्षा कहीं उन्नत और साधन-सम्पन्न है और लोगों में नाटकों की बड़ी भूख है। यहाँ के एमेचर मंच पर अभी दो वर्ष पहले तक कोई मौलिक बड़ा हिन्दी नाटक होता ही नहीं था। इसलिए पन्द्रह-बीस मिनट के नाटक के बदले जब म्योर हॉस्टल वाले एक घंटे का नाटक खेलने को तैयार हो गये तो मैंने मन में सोच लिया कि जब मुझे देखना ही नहीं तो नाटक कैसे ज़िबह किया जाता है, मैं इसकी क्यों चिन्ता करूँ। सो दीनदयाल का पार्ट एकदम काट दिया गया और भी कुछ दूसरे परिवर्तन किये गये और मैंने उन्हें नाटक खेलने की इजाज़त दे दी।

"आप नाटक देखने जरूर आइएगा," नाटक के निर्देशक श्री सतीशदत्त पाण्डेय ने कहा।

मैंने उनसे अपनी वितृष्णा की बात कही तो बोले, "हमें जब विश्वास हो जायगा कि नाटक अच्छा हो रहा है, तभी आपको कष्ट देंगे।"

कुछ ही दिन बाद पाण्डेय फिर आये, साथ में उनके एक और युवक था, "ये हैं मिस्टर आर० पी० जोशी!" उन्होंने परिचय दिया, "हॉस्टल के बहुत ही अच्छे अभिनेता हैं, इन्हें पण्डित बसन्तलाल का पार्ट दिया गया है। पर उसमें इन्हें कुछ कठिनाई पेश आ रही है।"

"क्या कठिनाई है ?" मैंने पूछा ।

"दूसरे दृश्य में जब बसन्तलाल के नाम तीन लाख की लाटरी निकल आती है और वे इसकी सूचना अपनी पत्नी को देते हैं तो हँसी-हँसी में वे रोने कैसे लग जाते हैं ?" जोशी ने कहा ।

मैं कुछ क्षण उस युवक की ओर देखता रहा, फिर मैंने पूछा—

"आपने कभी शराब पी है ?"

"जी नहीं !"

"आपके परिवार में किसी ने पी है ?"

"जी नहीं !"

"आपने कभी किसी को खूब पिये देखा है ?"

"जी नहीं !"

"आप कभी ठेके में गये हैं ?"

"जी नहीं !"

"तो भाई आप यह भूमिका किसी और को दीजिए !"

युवक का मुँह उतर गया । उसे 'छठा बेटा' में पण्डित बसन्तलाल की भूमिका बड़ी अच्छी लगती थी और उसे करने को उसका बड़ा मन था ।

"आप एक बार करके दिखा दीजिए, फिर मैं कर लूँगा ।"

मैं व्यस्त था । झुँझलाकर उठा । चपरासी को आवाज़ देकर मैंने दफ़्तर से 'आदिमार्ग' की एक प्रति मँगायी, क्योंकि उसमें छठा बेटा का रंगमंच-संस्करण संकलित है ।

"मैं एक नहीं दो बार करके दिखा देता हूँ," मैंने कहा, "पर जब तक आप दो-एक बार किसी ठेके में जाकर शराब में धुत किसी आदमी को बातें करते, क्षण में हँसते, क्षण में रोते, क्षण में सिर फोड़ने-फोड़वाने को तैयार और क्षण में गले मिलने को तत्पर नहीं देखते, ध्यान से उसकी भाव-भंगिमाओं का निरीक्षण नहीं करते, आपके

लिए पण्डित बसन्तलाल की भूमिका को मंच पर सफलता से उतारना कठिन होगा।"

और मैंने दो-तीन बार पण्डित बसन्तलाल का वह सम्वाद करके दिखाया।

जोशी चकित सा देखता रहा, फिर उसने मेरे हाथ से किताब ले ली, "लेकिन आप जो सम्वाद बोल रहे हैं, वे हमारे वाले नाटक से भिन्न हैं?"

"आप उस संस्करण से कर रहे होंगे जो अलग से छपा है।" मैंने कहा।

"जी हाँ!"

"आप नाटक सरलतापूर्वक करना चाहते हैं तो 'आदिमार्ग' से कीजिए, क्योंकि अलग से जो नाटक छपा है, वह पाठ्यक्रम के लिए तैयार किया गया है, इसलिए उसमें कहीं-कहीं क्लिष्ट शब्द आ गये हैं। फिर 'साले' शब्द काटकर उसकी जगह 'कमबख्त' कर दिया गया है। हालाँकि कमबख्त कहने में वह बात नहीं पैदा होती। यह गाली वाक्य के अन्त में आती है और शराब में धुत्त होने के कारण पण्डित बसन्तलाल लटके के साथ इसे देते हैं"—और मैंने उन्हें वैसा एक सम्वाद बोलकर दिखाया।

दोनों हँसी के मारे लोट-पोट हो गये।

"चाहे मैं और कुछ कर सकूँ या नहीं," जोशी बोला, "पर यह लटका मैं ज़रूर दे दूँगा।"

उन्होंने 'आदिमार्ग' की एक प्रति ले ली। मैंने उन्हें 'नीटा' (नार्थ इण्डियन थियेट्रिकल एसोसिएशन) के डायरेक्टर श्री विजय-बोस से मिला दिया। जोशी की कठिनाई उन्हें समझा दी, पार्ट करके दिखाया और उनसे कहा कि नाटक स्टेज करने में उनकी सहायता कर दें।

नाटक वाले दिन नाटक शुरू होने से एक घंटा पहले जोशी स्वयं आया।

"अश्क जी आप अवश्य चलिए!" उसने अनुरोध किया, सुबह ड्रेस-रिहर्सल हुई थी और सब का खयाल है कि नाटक बहुत अच्छा हो रहा है। हमने सम्वाद भी 'आदिमार्ग' के अनुरूप सरल बना लिये हैं। ठेके पर जाने का अवसर तो मैं नहीं पा सका, पर आपने जैसे पार्ट करके दिखाया और बोस साहब ने जैसे बताया, उसे उतारने की मैंने पूरी कोशिश की है।"

मेरा जाने को ज़रा भी मन न था। पर जोशी ने बड़ा अनुरोध किया। कौशल्या चलने को तैयार हो गयी तो मैं भी चल दिया।

लेकिन नाटक देखने के बाद लगा कि अच्छा हुआ, हम देखने आ गये। जोशी की भूमिका यद्यपि मेरे खयाल में ४५ प्रतिशत सफल रही, धुत्त शराबी की चाल में जो लड़खड़ाहट आ जाती है, बाहों और टाँगों पर से जैसे उसका अधिकार उठ जाता है, वैसा कुछ जोशी के यहाँ नहीं था। खुशी की बातें करते करते वह आँसू भी नहीं बहा सका, पर 'साले' जहाँ जहाँ भी आया उसने ऐसे लटका देकर कहा कि दर्शक हँसी के मारे लोट-पोट हो गये।

शेष पात्रों में डाक्टर हंसराज, चचा चानन राम, कैलाश और गुरु की भूमिकाओं में सर्व-श्री एस० पाण्डेय, एन० पंत, एम० सारस्वत तथा आर० शंकर बड़े सफल रहे।

चाचा चानन राम का तो मेक-अप देखकर ही हँसी आ जाती थी।

माँ और कमला की भूमिका लड़कों ही ने की। माँ का अत्यधिक करुण पार्ट ज़रा भी नहीं आया, पर कमला की भूमिका में जिस लड़के ने पार्ट किया, उसने लड़कियों से भी अच्छा किया। जब डाक्टर हंसराज ने दूसरी बार कहा—मैं डाक्टर हूँ मेरी पोज़ीशन है तो उसने

(उन्होंने कमला को घूँघट काढ़े वहीं पीढ़े पर बैठी दिखाया था) सव्यंग्य ऐसे "हुँ हुँ" किया कि दर्शक अनायास ठठाकर हँस दिये।

अन्त को भी उन्होंने ज़रा बदल दिया। 'छठा बेटा' के पहले संस्करण का अन्त यों था—

[तभी उनकी (पं० बसन्तलाल की) दृष्टि धरती पर गिरे हुए लाटरी के टिकेट पर चली जाती है। वे उसे उठा लेते हैं, उसे आँखों के पास ले जा कर पढ़ते हैं। तभी सब कुछ उनके सामने साफ़ हो जाता है। सिर झुक जाता है और एक दीर्घ-निश्वास उनके ओठों से निकल जाता है।]

पाण्डेय जी को आपत्ति थी कि जहाँ तक दर्शकों का सम्बन्ध है, यह अन्त प्रभावोत्पादक नहीं। क्योंकि पिछली पंक्ति में बैठे लोगों को यह दीर्घ-निश्वास और तज्जनित मुख-मुद्रा दिखायी न देगी। सो अन्त यों किया गया।

[तभी उनकी दृष्टि धरती पर गिरे हुए लाटरी के टिकेट पर चली जाती है। वे उसे उठा लेते हैं और उसे हाथ में लिये और पढ़ते हुए उठते हैं। तभी सब कुछ उन पर प्रकट हो जाता है। चौंककर वे चिल्ला उठते हैं—"तो क्या यह सपना था"—और फिर चारपाई पर लुढ़क जाते हैं।]

जोशी ने यह टुकड़ा इतना अच्छा किया कि जब दृश्य पर पर्दा गिरा तो लोग अनायास करतल-ध्वनि कर उठे। अजीब बात यह है कि मैं स्वयं वे सब त्रुटियाँ भूल गया और बेसाख्ता ताली बजा उठा।

दो बातों का पता 'छठा बेटा' के उस प्रदर्शन में चला। रंगमंच पर होना यह चाहिए कि जब किसी स्थल पर लोग हँसें तो अभिनेता

क्षण भर को मौन हो जायँ। 'छठा बेटा' में दर्शक इतना हँसेंगे और नाटक इतना सफल रहेगा, यह न सोचा था। इसलिए अभिनेताओं को खबरदार न किया था। वे इस बात का खयाल नहीं रख सके और बहुत से सम्वाद सुनायी नहीं दिये। सिनेमा के पर्दे पर कभी-कभी आवाज़ बन्द हो जाने से जैसे तस्वीरों के ओठ हिलते दिखायी देते हैं; कुछ वैसा ही दृश्य वहाँ दिखायी दिया। दो साल बाद 'अलग-अलग रास्ते' खेलते समय मैंने 'नीटा' के सभी सदस्यों को इस बात से खबरदार कर दिया और 'अलग-अलग रास्ते' की सफलता में इस छोटी-सी बात का बड़ा हाथ है। राज जोशी और कौशल बिहारीलाल ने दूसरे एक्ट में इस बात का बड़ा खयाल रखा। एक भी सम्वाद नहीं मरने दिया और हाल लगातार कहकहाज़ार बना रहा।

दूसरी बात जिसका आभास उस रात हुआ, वह थी नृत्य-गान-विहीन आधुनिक बड़े नाटक की सफलता। आज तक हमारे यहाँ या तो ऐतिहासिक नाटक खेले जाते रहे हैं या नृत्य-गान वाले एकांकी या कंसर्ट! ऐसा लम्बा सामाजिक नाटक भी एमेचर मंच पर सफल हो सकता है, जिसमें एक भी नाच या गाना न हो, यह उसी रात मालूम हुआ। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यदि ऐसे नाटक की सफलता में मेरा विश्वास न होता तो मैं ऐसा नाटक लिखता ही क्यों, लेकिन अपनी आँखों के सामने उसे सफल होते और लोगों को बात-बात पर ताली बजाते देखकर मेरा विश्वास और भी पक्का ज़रूर हुआ। यद्यपि मेरे विचार से नाटक केवल ४५ प्रतिशत सफल हुआ, लेकिन यह तो मालूम हो गया कि यह कितना अच्छा हो सकता है और कैसे दर्शकों को हँसा-रुला सकता है।

मुझसे अधिक उसका प्रभाव श्री विजय बोस पर हुआ और जब मैंने १९५२ के अपने मसूरी प्रवास में 'अलग-अलग रास्ते' की अन्तिम पाण्डुलिपि तैयार की और आ कर उन्हें दिखायी तो उन्होंने तय किया

कि 'नीटा' की ओर से अगला नाटक वे एकांकी न करके बड़ा करेंगे, 'अलग-अलग रास्ते' करेंगे और पैलेस थियेटर में करेंगे।

'नीटा' इलाहाबाद के निम्न-मध्य-वर्गीय आर्टिस्टों की संस्था है, जिसमें बड़े अच्छे अभिनेता हैं, पर सब के सब साधन-हीन हैं। १९५१ में मेरे ही यहाँ रेडियो स्टेशन इलाहाबाद, अग्रसेन हाई स्कूल तथा एकाउण्टेण्ट जनरल के दफ़्तर के चन्द कलाकारों की उपस्थिति में इसका सूत्रपात हुआ। पहले-पहल 'नीटा' ने मेरा ही एकांकी 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ !' खेला, फिर एक साल बाद मेरा ही दूसरा एकांकी 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' खेला। फिर श्री भगवती चरण वर्मा के 'दो कलाकार' और 'सबसे बड़ा आदमी' खेले। इस बीच 'नीटा' के आर्टिस्ट दूसरी संस्थाओं में योग देकर न केवल उनके नाटक सफल बनाते रहे, बल्कि स्वयं भी बड़ा क़ीमती अनुभव प्राप्त करते रहे।

'नीटा' के लिए 'अलग-अलग रास्ते' के चुने जाने में प्रसिद्ध हिन्दी-कवि श्री भारतभूषण अग्रवाल का भी हाथ है। उन्हें मेरा नाटक 'आदिमार्ग' बड़ा पसन्द था। वे जब लखनऊ में थे तो 'आदिमार्ग' स्टेज करना चाहते थे। लेकिन जब सब तैयारी लगभग पूरी हो गयी तो उनका तबादला इलाहाबाद हो गया।

यहाँ आने पर जब उन्हें श्री विजय बोस से मालूम हुआ कि मैंने 'आदिमार्ग' को फिर से लिखा है और उसे तीन एक्ट का बना दिया है तो वे बड़े प्रसन्न हुए। 'नीटा' की एक मीटिंग रखी गयी, वहाँ 'अलग-अलग रास्ते' पढ़ा गया और यही नाटक किया जाय, यह तय हुआ।

लेकिन तब मैं संकोच में पड़ गया। 'पैलेस थियेटर' इलाहाबाद का प्रसिद्ध थियेटर है, उसमें नाटक सफल हो जाय तो क्या बात है, पर यदि असफल रहे तो सिविल लाइन्स में निकलना मुश्किल हो जाय।

'चैखव' के 'सी-गल' के प्रथम अभिनय की बात मेरी आँखों में घूम गयी।

जब मैंने अपनी शंका प्रकट की तो श्री अग्रवाल और विजय-बोस दोनों ने कहा कि यदि नाटक रिहर्सल में आपको अच्छा न लगे तो न किया जायगा। और मैं आश्वस्त हो गया।

'अलग-अलग रास्ते' वास्तव में 'आदिमार्ग' ही का परिवर्तित रूप है। हुआ यह कि 'छठा बेटा' के बाद मैं इसी थीम पर उतना ही बड़ा नाटक लिखना चाहता था। यदि मैं रेडियो में* नौकर न होता तो निश्चय ही मैं तीन एक्ट का नाटक लिखता पर तब मुझे हर दूसरे महीने एक न एक नाटक रेडियो के लिए लिखना पड़ता था। रेडियो में दो घंटे का नाटक हो न सकता था। जिन दिनों मैं रेडियो में नौकर हुआ, बड़े से बड़ा नाटक आध घंटे का हो सकता था। लेकिन १६४२ में इएटर-स्टेशन-प्ले होने लगे, अर्थात् एक नाटक सभी स्टेशनों से ब्रॉडकास्ट होता था—कभी सजीव और कभी रेकार्ड होकर। इएटर-स्टेशन-प्ले होने लगे तो स्पर्धा भी जगी और अच्छे नाटकों की माँग भी बढ़ी। अवधि भी आधे घंटे से बढ़कर ४५ मिनट हो गयी। तब मेरे दिमाग में 'अंजो दीदी' और 'अलग-अलग रास्ते' के आधारभूत विचार थे। पहले मैंने 'अंजो दीदी' लिखना शुरू किया। एक एक्ट लिखकर मैंने रेडियो के ड्रामा-इंचार्ज को दे दिया। उन्हें वह इतना अच्छा लगा कि उस एक एक्ट ही को पूरे एकांकी के रूप में ब्रॉडकास्ट करना उन्होंने स्वीकार कर लिया। रफ़ी पीर ने उसे प्रस्तुत किया और इतना अच्छा प्रस्तुतीकरण रेडियो पर मैंने कभी

---

* अश्क जी १६४१ से ४४ तक ऑल इंडिया रेडियो के दिल्ली स्टेशन से नाटककार के रूप में सम्बद्ध थे।

नहीं देखा। 'अलग-अलग रास्ते' को मैंने किसी न किसी तरह ४५ मिनट की अवधि में समो दिया और यह 'आदिमार्ग' के नाम से कई बार ब्रॉडकास्ट हुआ।

यद्यपि 'अंजो दीदी' और 'अलग-अलग रास्ते' अपने एकांकी रूप में स्टेज पर भी बड़े सफल रहे। लेकिन मैं सन्तुष्ट न हुआ। 'अंजो दीदी चाहे लोगों को बिलकुल पूरा लगता था, लेकिन मुझे एकदम अपूर्ण दिखायी देता था। अब उसके पूर्ण रूप में जो लोग उसे पढ़ेंगे वे मेरे असन्तोष को समझ जायँगे।

'अंजो दीदी' में तो खैर सिवा इसके कि एक और एक्ट लिखना शेष था, मुझे कोई त्रुटि न लगती थी, पर 'अलग-अलग रास्ते' 'आदिमार्ग' के रूप में बड़ा ही त्रुटिपूर्ण मालूम होता था।

पहले तो यह कि ताराचन्द जब अपने जमाई प्रोफ़ेसर मदन को दूसरी शादी करने से रोकने जाते हैं तो दस ही मिनट बाद वापस आ जाते हैं। रंगमंच लाख भ्रम (Illusion) सही, पर उनका इतनी जल्दी आ जाना समझने वालों को खटकता है और सत्य का भ्रम नहीं होने देता। दस मिनट में, कार ही में सही, कैसे पं० ताराचन्द खाई वालों की धर्मशाला में पहुँच गये और कैसे (शादी हो ही चुकी सही) उनसे लड़-झगड़ कर वापस भी आ गये?—यह बात अनायास मन में उठती है।

दूसरे पूरन और रानी का चरित्र उसमें अपूर्ण दिखायी देता है। रानी पर अपने भाई का प्रभाव है, पर वह भाई कैसा है, जिसकी शिक्षा बहन को पति और पिता—दोनों को छोड़कर चले जाने के लिए उद्यत कर देती है, उस भाई का मानसिक स्तर कैसा है, इस सब का पता 'आदिमार्ग' से नहीं चलता। पूरन के एक-दो व्यंग्य-वाक्य और मार्क्स और लेनिन की तस्वीरें हैं, लेकिन वे सब पूरन के चरित्र की महत्ता बता सकने में नितांत कम पड़ जाती हैं।

तीसरे ताराचन्द का चरित्र भी जैसा मैं चाहता था 'आदिमार्ग' में नहीं उतर पाया। ताराचन्द को मैं एक कठोर पिता के रूप में देखता था। पर 'आदिमार्ग' का ताराचन्द, लिजलिजा, ढुलमुल किंचित हास्यास्पद और रूढ़िग्रस्त उतरा।

'आदिमार्ग' को 'अलग-अलग रास्ते' के रूप में आने तक १० बरस लग गये। मैं बेशुमार उलझनों में फँसा रहा, उपन्यास और कहानियाँ लिखता रहा, लेकिन इच्छा रहने पर भी इन नाटकों को पूरा न कर सका।

इधर १९५१ में 'नीटा' के संस्थापन के बाद लगातार इन्हें पूरा करने की बात मन में आती रही, पर 'छठा बेटा' की सफलता ने कुछ ऐसा प्रोत्साहित किया कि १९५२ में मैंने इसे ख़त्म कर डाला।

जिन दिनों 'अलग-अलग रास्ते' की रिहर्सल हो रही थी, मैं अपना उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' लिख रहा था। रिहर्सलें श्री विजय बोस और श्री भारत भूषण अग्रवाल ने करवायीं। भारत भूषण नाटक के दस-पन्द्रह दिन पहले बीमार हो गये तो सारा बोझ श्री विजय बोस पर आ पड़ा। क्योंकि यह पहले से तय था कि नाटक अच्छा न होगा तो स्टेज न किया जायगा, इसलिए अन्तिम कुछ रिहर्सलें मेरे यहाँ हुईं। और तो सब ठीक हो रहा था, लेकिन स्टेज पर कौन कहाँ होगा, यह ठीक न था, अन्तिम दृश्य में खासी भीड़ जमा हो जाती थी। यह सब इन अन्तिम रिहर्सलों में नियत किया गया और यद्यपि मैं पूर्णरूपेण सन्तुष्ट न हुआ तो भी नाटक खेल लिया जाय, इसकी अनुमति मैंने दे दी। स्वयं भी नाटक के दिन स्टेज पर उपस्थित रहा।

नाटक हमारी सब की आशाओं से कहीं ज्यादा सफल हुआ। ताराचन्द की भूमिका में विजय बोस, पूरन के रूप में राज जोशी, त्रिलोक की भूमिका में कौशल बिहारी लाल, सन्नू के रूप में ताराचन्द गौड़

बड़े ही सफल उतरे। के० बी० लाल, पी० सी० बनर्जी और अब्बास ने भी ताराचन्द के मित्रों की भूमिका को खूब निबाहा। रानी की भूमिका में ललिता चटर्जी ने बड़ा सुन्दर अभिनय किया। श्रीमती बिन्दु अग्रवाल राजी की भूमिका में उतरीं। वे इसलिए भी प्रशंसा की पात्र हैं कि उन दिनों उनके पति श्री अग्रवाल सख्त बीमार थे, वे अस्पताल जाती थीं, रिहर्सल करती थीं, अपनी बच्चियों को देखती थीं और अपना पार्ट उन्हें शब्दशः याद था। रंगमंच के लिए ऐसी निष्ठा अलभ्य है। नाटक समाप्त हुआ तो दर्शक हाल के बाहर न जा रहे थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे हम लोगों का दिल बहुत बढ़ा। नाटक के बाद ही सब अभिनेता मेरे घर चाय पर आये और गयी रात तक इस सफलता के नशे में सरशार रहे।

अब इतने दिन बाद जो उस शाम की याद करता हूँ तो लगता है कि 'अलग-अलग रास्ते' की सफलता चमत्कार से कम न थी। मन के मुताबिक केवल दो रिहर्सलें हुईं। ड्रेस रिहर्सल एक भी न हुई। पैलेस के स्क्रीन पर रोग़न हो रहा था, इसलिए स्टेज पर जगह न मिली। आधी रिहर्सलें स्टेज पर और आधी पैलेस के बरामदों में हुईं। क्योंकि सेटिंग का कुछ आभास अभिनेताओं को देना जरूरी था, इस-लिए पैलेस के स्टेज को नाप कर मैंने अपने कॉटेज (Cottage) के आगे चाक से स्टेज बनाया और उस में अभिनेताओं की गतिविधि को निश्चित किया।

पैलेस वालों ने हमको मैटनी के लिए हाल दिया था और हमें उसे छै बजे खाली कर देना था। डा० रूबी मुकर्जी (यद्यपि वे 'नीड़' की सदस्य नहीं, पर हमारी प्रार्थना पर) स्टेज सेट करने में हमारी मदद कर रही थीं। चार बज गये जब सेटिंग खत्म हुई तो उन्होंने आदेश दिया कि लाइट्स ऑन की जायँ। तब मालूम हुआ कि बल्ब तो हैं ही नहीं। विजय बोस चिल्ला रहे हैं कि तत्काल नाटक शुरू होना

चाहिए और डाक्टर रूची चिल्ला रही हैं कि बल्बों का इन्तज़ाम करो। जिन महानुभाव के ज़िम्मे यह ड्यूटी लगायी गयी थी, वे पता नहीं कहाँ ग़ायब थे। तब डाक्टर रूची ने खुद अपनी जेब से पैसा खर्च करके, पता नहीं कहाँ से, बल्ब मँगाये। यह तय है कि वे ऐन वक्त पर हमारी मदद न करतीं तो हमारा नाटक, सफल होना तो दूर, शुरू ही न हो पाता।

नाटक का पहला दृश्य ज़ोरों से हो रहा था कि पर्दे पर तैनात व्यक्ति ने मुझसे कहा, "मुझे बता दीजिएगा कि मुझे पर्दा कहाँ गिराना है ?" मैं चकराया। यों ही तमाशा देखने के लिए गया था, कोई ड्यूटी मेरे ज़िम्मे न थी। लेकिन मेरा नाटक था, सफलता-असफलता में मैं साझे का भागी था, भागा-भागा ग्रीन-रूम में गया, कहीं से ढूँढ़-ढाँढ़ कर नाटक की एक प्रतिलिपि लाया और पर्दे वाले के पास आ खड़ा हुआ, तभी प्रॉम्पटर ने कहा, "कॉल बेल बजाइए !", "काल बेल बजाइए !" अब मालूम हुआ कि कॉल बेल पर कोई आदमी नियुक्त ही नहीं। खेल के अन्त तक ये दोनों कर्तव्य मैं सरंजाम देता रहा।

अभी खेल कुछ ही बढ़ा था कि पर्देवाला, "सम्हालिए अपने पर्दे, मैं चला !" कहता हुआ बाहर की ओर बढ़ा। मेरे पाँव तले से धरती खिसक गयी। बढ़कर मैंने उसे रोका। मालूम हुआ कि उसके दो आदमियों को पास नहीं दिये गये हैं। तब 'नीटा' का जो भी मेम्बर सामने पड़ा, उसे डाँटकर मैंने कहा 'इसके आदमियों को बुलाकर फ़र्स्ट क्लास में बैठा दो !'...यह नखरा उसका तब था जब कि पर्दा उठाने और गिराने के लिए उसे ? से देकर बुलाया गया था।

जहाँ तक अभिनय का सम्बन्ध है, एक दो बातें उल्लेखनीय हैं—

श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने एकांकी संग्रह की भूमिका में नाटक खेलने वालों को जो परामर्श दिये हैं, उनमें सबसे पहला —क्या आपके पात्रों को अपना-अपना पार्ट याद है या वे प्रॉम्पटर के आसरे

काम चलाते हैं...'अलग-अलग रास्ते' में कुछ लोग ऐसे थे, जिन्हें अपना पार्ट याद न था और वे प्राम्पटर का मुँह तकते थे। इन्हीं की बदौलत अन्त का एक महत्वपूर्ण सम्वाद कट गया। हालाँकि दर्शकों को कुछ मालूम नहीं हुआ। पर लेखक के कलेजे पर छुरी चल गयी। दूसरी ओर कौशल बिहारी लाल और राज जोशी को पार्ट अच्छी तरह याद होने से, उन्होंने दूसरा ऐक्ट इतना अच्छा किया कि वह नाटक को उठा कर सफलता के शिखर पर ले गया। दूसरे एक्ट में पूरन और त्रिलोक लगभग आध घंटे तक स्टेज पर रहते हैं। नाटक खत्म करके जब मैंने मित्रों को सुनाया था तो उन्होंने कहा था—सम्वाद कितने भी दिलचस्प क्यों न हों पर यह बोर करेगा। लेकिन राज जोशी और कौशल बिहारी लाल के सुन्दर एक्टिंग के कारण दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

'छठा बेटा' के अभिनेताओं को यह मालूम न था कि लोग हँसें तो चुप हो जाना चाहिए। इसलिए कुछ बड़े सुन्दर सम्वाद मर गये, लेकिन 'अलग-अलग रास्ते' के इस दूसरे एक्ट में एक अन्य कारण से एक बहुत ही अच्छा सम्वाद खत्म हो गया और इस बात का मुझे दुख रहा।

दर्शकों की एक दूसरी प्रवृत्ति भी होती है। वे यदि किसी अभिनेता की एक-आध भाव-भंगिमा या सम्वाद पर हँसते हैं तो फिर उसकी हर अदा पर लगातार हँसते चले जाते हैं, चाहे सम्वादों में हँसी की गुंजाइश हो या न हो। जिस प्रकार फ़िल्म के पर्दे पर हास्य रस के प्रसिद्ध अभिनेता वी० एच० देसाई की सूरत देख कर ही लोग हँसने लग जाते थे, इसी तरह थियेटर के दर्शक अपने प्रिय अभिनेता की हर अदा पर ठहाके लगाने लगते हैं। 'अलग-अलग रास्ते' में पूरन का पार्ट राज-जोशी ने इतनी अच्छी तरह अदा किया कि दर्शक उसकी हर बात पर हँसने लगे। दूसरे एक्ट के अन्त में रानी का बड़ा ही करुण सम्वाद है,

जहाँ वह अपने पति द्वारा कचहरी के फ़्लैट की बात सुन कर दिवा-स्वप्न में खो जाती है। ललिता यह पार्ट बहुत अच्छा कर रही थी—सामने थियेटर हाल की छत की ओर देखते हुए वह अपने सुख-सपने में गुम थी। उसे आदेश था कि वह 'कार' का शब्द सुनकर चौंके और पलटे, लेकिन 'त्रिलोक' और 'रानी' के सम्वादों के बीच में पूरन का भी एक सम्वाद था। राज जोशी ने उसी बेपरवाही और व्यंग्य से उसे अदा किया (यद्यपि दर्शकों के मूड को देखकर उसे संजीदगी से अदा करना चाहिए था) दर्शक ठठा कर हँसे, ललिता समय से पहले पलटी और उस सुन्दर सम्वाद की आत्मा मर गयी।

'अलग-अलग रास्ते' मेरे निकट पचास-पचपन प्रतिशत से अच्छा नहीं हुआ तो भी इससे मेरा बड़ा दिल बढ़ा और मैंने इस वर्ष 'अंजो दीदी' का दूसरा बड़ा एक्ट जिसे दस बरस से मैं पूरा करने की सोच रहा था लिखकर खत्म कर दिया।

इस सब के लिए मैं इन एमेचर संस्थाओं का आभारी हूँ जिनके साहसपूर्ण प्रयास मेरी प्रेरणा का कारण बने। 'नीटा' के सदस्यों के प्रति मैं क्या औपचारिकता निभाऊँ, वे सब तो मेरे अपने हो गये हैं।

१-१२-५४

है कुछ ऐसी बात जो चुप हूँ....

बात कर नहीं आती ? बात तो ऐसी कर आती है कि एक बार शुरू कर दूँ तो दफ़तर के दफ़तर खोल के रख दूँ, पर आप इसे दिन भर स्टूडियो में बैठे मक्खियाँ मारने और बेकार वक्त में कड़वी सिंगल चाय के कप गले में उँडेलने वाले एक एकस्ट्रा की महज बक समझेंगे।

आज से वर्षों पार, जब कॉलेज के पहले साल की याद करता हूँ तो हँसी भी आती है और दुख भी होता है। इस दुनियाँ के बारे में, जिसकी हर परत अब मैं देख चुका हूँ, कैसे रंगीन सपने मन में झिलमिलाया करते थे...कैसे अरमान...कैसी आकांक्षाएँ... फ़िल्म के रजत पर्दे पर नायक के रूप में प्रकट होकर अपने चाहने वाले युवकों की ईर्ष्या का कारण बनने और हज़ारों युवतियों के मानस-पट पर अपनी तस्वीर अंकित देखने की कैसी आरज़ुएँ...कैसी हसरतें... मन में उन दिनों तड़पा करती थीं ! कॉलेज के उस पहले वर्ष

है कुछ ऐसी बात जो चुप हूँ, वरना क्या बात कर नहीं आती। ग़ालिब

में जब कि फ़र्स्ट इयर का छात्र 'फ़ूल' (मूरख) कहलाता है, मैं सचमुच मूरख बन गया।

मैट्रिक ही में था जब पिता जी का देहान्त हो गया। दस हज़ार का बीमा उन्होंने करा रखा था, लेकिन मरने के पहले वे काफ़ी बीमार रहे थे। दो-तीन हज़ार का कर्ज़ सिर पर था। जब बीमें की रक़म मिली तो माँ ने बाकी रुपया बैंक में जमा कर दिया, कर्ज़ चुकाने के लिए तीन हज़ार रुपया घर में रख लिया, दो एक पड़ोसियों का रुपया चुक भी गया, लेकिन तो भी हज़ार-डेढ़ हज़ार रुपया अन्दर की कोठरी में छोटी सी आलमारी में रखा था। मैंने रुपया उठाया और बम्बई का टिकट लेकर अपने चिर-दिन के पाले सपनों को सच कर दिखाने के लिए चल पड़ा। फ़र्स्ट इयर का मूरख युवक, जेब में हज़ार रुपया और बम्बई शहर, जहाँ के चालीस प्रतिशत लोग कुछ काम नहीं करते, केवल बुद्धि के बल पर जीते हैं।

बम्बई के पहले कुछ दिन सदा याद के पर्दे पर अंकित रहेंगे। उन चन्द दिनों में क्या नहीं देखा? ट्रामें, बसें, टैक्सियाँ, सिनेमा थियेटर, सरकस और सबसे बड़ा तमाशा—रेस। दो सौ रुपया तो एक ही दिन रेस में फुँक गया। अगर बम्बई में आने के अपने उद्देश्य की याद कहीं मानस के उन धुँधलकों में टिमटिमाती न रहती, जो बम्बई के ज़ोरदार घुमाव ने दिमाग़ में ला दिये थे, तो शायद सारा रुपया रेस ही में उड़ जाता, क्योंकि रेस तो ऐसा कुँआ है जिसमें दो सौ क्या, दो लाख एक दिन में समा जायँ और बुलबुला तक न उठे। मैं आया था फ़िल्म में हीरो बनने के लिए और किसी ऐसे मित्र की तलाश में था जो मुझे उस दुनिया का परिचय करा दे। सौभाग्य से होटल ही में एक ऐसे युवक से मुलाक़ात भी हो गयी। उसके एक मित्र के मामा पूना में डायरेक्टर थे, उसे मेरी इच्छा का पता चला तो उसने कहा, "यह काम कुछ मुश्किल नहीं। तुम्हें पूना ले जाकर

उसके मामा से मिला देंगे। बस एक बार मुलाक़ात हो जाय और वे एक-आध रील में तुम्हारा कैमरा और साउँड टेस्ट ले लें तो फिर कौन तुम्हें हीरो बनने से रोक सकता है? ऐसी 'बाडी' और ऐसा 'फ़िल्मफ़ेस' है तुम्हारा!

"स्कूल में कई बार मैंने नाटकों में पार्ट किया है," मैंने कहा, "वे एक बार टेस्ट लेकर देखें तो एक्शन तो मैं वह दूँगा कि वे अश-अश कर उठें।"

"वही तो," मेरा मित्र बोला, "लेकिन पहले भानजे को राज़ी करना है, फिर मामा को। भानजा एक बार पूना चल कर तुम्हें अपने मामा से मिलाने को तैयार हो जाय तो बस बाज़ी वह जीती पड़ी है।"

'टेक' और 'कैमरा टेस्ट' की बात मैं समझ गया था। कैमरे में शक्ल और माइक में आवाज़ कैसी आती है, डायरेक्टर के लिए यह जानना बड़ा ज़रूरी है। शक्ल अच्छी हुई, लेकिन आवाज़ 'साउंड ट्रक' से निकल कर भद्दी और भोंड़ी आयी तो रखिए खूबसूरत शक्ल और अच्छी बाडी को अपने घर। खामोश फ़िल्मों के ज़माने की सुलोचना जैसी हीरोइन और जमशेद जी जैसे तनावर हीरो बोलपट के आते ही मात खा गये। क्योंकि शक्ल यद्यपि उनकी लाजवाब थी, पर आवाज़ बेहद भोंड़ी थी, तब सोचा कि अपने उस होटल वाले मित्र के उन दोस्त को खुश किया जाय। मित्र की सलाह पर उसे दो-तीन बार चाय पिलायी, लेकिन पता चला कि चाय को वह पेय ही नहीं समझते, कुछ ज़्यादा गर्म चीज़ हो तो बात बने। तब उन दोनों को खुश करके अपना अभीष्ट पाने के प्रयास में मैंने वह तरल चीज़ भी चखी जिसके बारे में सुन रखा था कि 'छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई।' और सच मानिए शायर ने ग़लत नहीं कहा, क्योंकि अच्छी-भली लग गयी। रोज़ रात को जलसा रहने लगा। रुपया काफ़ी खत्म हो गया, लेकिन अभी तक भानजे

साहब ने मामा से परिचय कराना तो दूर रहा, उनकी शक्ल तक नहीं दिखायी। तब अपने मित्र के कहने पर एक दिन मैंने भानजे साहब से, क्योंकि वे मुझसे काफ़ी खुल गये थे, अपनी इच्छा प्रकट की। मित्र ने भी रद्दा जमाया। मेरे ऐक्टिंग, मेरे गले और मेरी बाडी की प्रशंसा की और कहा कि एक बार यदि मेरा कैमरा-टेस्ट हो जाय तो मेरे हीरो बनने के रास्ते में कोई बाधा नहीं हो सकती।

मेरा खयाल था कि मेरी इच्छा सुनते ही मामा का वह भानजा झट मेरे साथ पूना की गाड़ी पर जा बैठेगा। इतने दिन मेरे पैसे पर उसने गुलछर्रे उड़ाये थे। लेकिन नहीं, ऐसी कोई बात नहीं हुई। बड़े इतमीनान से उसने कहा कि यदि उसे पचास रुपये दिये जायँ तो वह मामा से मिलायेगा और पचास और दिये जायँ तो कैमरा टेस्ट का प्रबन्ध करेगा। मेरे लगभग सात-आठ सौ रुपये उन पन्द्रह-बीस दिनों में खर्च हो चुके थे, पाँच-छै सौ रुपये बचे थे। सौ-डेढ़ सौ का नुस्खा उसने बता दिया, लेकिन मैं चुप रहा। बोला कुछ नहीं। हाँ, मेरे होटल वाले मित्र को बड़ा क्रोध आया। उसने उसे डाँटा। बड़ी खिट-खिट हुई। आखिर वह पच्चीस रुपये उस समय, पच्चीस मामा से मिलाने पर और पचास टेस्ट करा देने और काम बनवा देने के बाद लेने को तैयार हो गया। मुझे बड़ा बुरा लगा क्योंकि मैं उसे अपना मित्र समझने लगा था। खैर साहब, हम तीनों पूना के लिए 'दक्खन-क्वीन' में सवार हुए। होटल वाले मित्र को साथ लेना पड़ा क्योंकि बिना उसके तो कुछ हो ही न सकता था। ट्रेन फ़र्राटे भरती पूना की ओर चली और साथ ही मेरी कल्पना 'दक्खन क्वीन' से भी तेज़ फ़र्राटे भरती उड़ चली। मुझे लगा कि मंजिल अब बहुत दूर नहीं। माइक और साउंड-टेस्ट हुआ कि मैं हीरो बना। पूना पहुँच कर स्टेशन के पास ही एक होटल में टिका। नाश्ता-वाश्ता कर के हम स्टूडियो को चले। गेट पर चौकीदार ने रोक दिया। तब मामा के

उस भानजे ने एक चिट्ठी लिखी। कुछ देर बाद उत्तर आ गया। हमें बाहर ही रोक कर वह अन्दर गया। कोई पन्द्रह मिनट बाद वापस आया तो बोला, "मामा जी स्टूडियो में व्यस्त हैं, फ़िल्म की शूटिंग हो रही है। कल सुबह मिलने का टाइम उन्होंने दिया है।"

मैंने कहा, "हमें शूटिंग ही दिखा दो।"

"तुमने पहले कहा होता तो मैं तय कर आता, लेकिन अब कल ही दिखा दूँगा। बात पक्की हुई समझो।"

खुश-खुश हम लौटे। रात को मित्र ने सुझाया कि भानजे को खुश रखना चाहिए, ताकि वह टेस्ट ही न कराये, बल्कि तुम्हें 'हीरो' का कांट्रेक्ट ले दे। बात उसकी ठीक थी। पूरी बोतल मेज़ पर आ गयी। वह खत्म हुई तो दूसरी आयी। बस इतना ही याद है और कुछ याद नहीं। सुबह उठा तो देखा कि कमरा खाली है। बस जो कपड़े तन पर हैं, वही हैं, बाकी सब कुछ ग़ायब है।

इसके बाद क्या गुज़री, क्या बतायें, बड़ी लम्बी दास्तान है। होटल वाले का जितना बिल था, दो महीने उसके यहाँ बैरे की नौकरी कर के चुकाया, फिर उन मामा जी से जाकर उनके घर मिला। उनको अपनी दुख-गाथा सुनायी तो मालूम हुआ कि इस नाम का तो उनका कोई भानजा ही नहीं। लेकिन मेरी दास्तान सुनकर वे प्रभावित ज़रूर हुए। खास तौर पर जब उन्होंने सुना कि उस मुसीबत में जब मेरा सब कुछ लुट गया था, मेरे स्वाभिमान को यह गवारा न हुआ कि मैं घर चिट्ठी लिखूँ और रुपये मँगाऊँ, कि मैं घर वापस नहीं गया और मैंने काम करके होटल का बिल चुका दिया। वे पसीज गये और उन्होंने मुझे वचन दिया कि वे निश्चय ही मेरी सहायता करेंगे। मैं उनके इस वादे से कुछ ऐसा अभिभूत हुआ कि

चाहा उनके चरणों में गिर पड़ूँ। लेकिन वैसा कुछ उन्होंने मुझे नहीं करने दिया। हाँ, उनका नौकर उन दिनों भाग गया था और उन्हें बड़ा कष्ट था। जब मैंने उनसे कहा कि मुझे वे ज़रूर अपने चरणों में जगह दे कर सेवा का अवसर दें तो उन्होंने इतनी कृपा की कि अपने उस नौकर की जगह मुझे दे दी। नौकर वाली कोठरी मुझे रहने को मिल गयी और खाने की कमी न रही। डायरेक्टर साहब का खाना तो एक आया पकाती थी, मैं ऊपर का काम देखता था। रहते मलाड में थे, स्टूडियो गोरे-गाँव में था। दोपहर को उनका खाना ले जाता। कई बार शूटिंग चल रही होती, मैं भी अन्दर चला जाता। तब मन की धड़कन कैसे तेज़ हो जाती और कैसे सपने आँखों में लहरा जाते, यह क्या बताऊँ ? वह हीरोइन जिसे रजत-पट पर देखता था, अब आँखों के सामने सशरीर स्टूडियो में काम करती थी। देखते-देखते मैं दिवा-स्वप्नों में खो जाता, स्वयं हीरो की जगह ले लेता और हीरोइन की बाँह में बाँह डाले डांस करता। इसके बाद प्रायः मैं डायरेक्टर साहब के काम में अपनी निष्ठा को बढ़ा देता। लेकिन इस निष्ठा का फल किसी रोल या फ़िल्मी भूमिका की सूरत में मुझे नहीं मिला। हाँ, मैं बेयरा से उलटी तरक्की कर उनका खानसामा बन गया। हुआ यह कि जाने किस बात पर नाराज़ होकर उनकी आया भाग गयी। डायरेक्टर साहब और उनकी बीवी बड़े परेशान हुए। तब सरसरी तौर पर उन्होंने कहा कि जब तक नयी आया या खानसामा नहीं आता, मैं खाना पकाने में ज़रा उनकी बीवी की मदद कर दिया करूँ। जब मैंने कहा कि मैंने खाना कभी नहीं पकाया तो उन्होंने कहा कि सीख लो। फ़िल्म में काम करने को हर तरह का तजुर्बा होना ज़रूरी है। मन तो बहुत खिन्न था पर मैं किचन में चला गया। दूसरे दिन उन्होंने कहा कि भीड़ का एक दृश्य है, यों तो बाहर से एक्स्ट्रा आयेंगे, लेकिन उनकी संख्या कम है। मैं भी पहुँच जाऊँ तो वे

मुझे भी शमिल कर लेंगे। मेरी खुशी का वार-पार न रहा। मैंने उस दिन जी-जान से रसोई का काम किया और समय पर स्टूडियो जा पहुँचा। रात की शूटिंग थी। दस बजे के लगभग शुरू हुई। डायरेक्टर साहब ने मुझे भीड़ के आगे खड़ा किया और दूसरे दिन प्रोजेक्शन-रूम में बहाने से मुझे रात के शॉट भी दिखा दिये। मेरे चेहरे पर मुझे वह सब जोश-खरोश बिलकुल न दिखायी दिया जिसे डायरेक्टर साहब अगली पंक्ति के आदमियों में देखना चाहते थे। बात असल में यह थी कि मैं निरन्तर यह सोचता रहा था कि डायरेक्टर साहब बोलने वाला पार्ट मुझे देते तो कैसा रहता! और इसी सोच में वह जोश के भाव मेरे चेहरे से ग़ायब हो गये थे। लेकिन उस घबराहट और परेशानी के बावजूद भीड़ की अगली पंक्ति में अपने आप को देखकर मुझे जितनी खुशी हुई, वह फिर कभी नसीब नहीं हुई। मैं इतना प्रसन्न हुआ कि मैंने डायरेक्टर साहब को खुश करने के लिए जी-जान से मेहनत करके रसोई का काम सीख लिया।

लेकिन नतीजा यह निकला कि वह दिन सो आज का दिन, डायरेक्टर साहब ने फिर कभी वह मूक रोल भी मुझे नहीं दिया। आया फिर आयी नहीं और मैं बाक़ायदा उनका खानसामा बन गया।

जब छै महीने इसी तरह बीत गये, मैं खानसामा बना रहा और स्टूडियो खाना आदि ले जाने के लिए डायरेक्टर साहब ने एक और छोकरा फँसा लिया तो मैंने फ़ैसला कर लिया कि उनके चंगुल से निकल जाऊँगा। खानसामागीरी तो आ ही गयी थी और बम्बई में अच्छा खानसामा दुर्लभ है और मैं अपनी वक़अत जान गया था और यह भी जान गया था कि डायरेक्टर साहब स्टूडियो की कैंटीन में बैठकर खाना खाते समय मेरे खाने की बड़ी प्रशंसा कर चुके हैं, हीरोइन को खिला चुके हैं और वह भी तारीफ़ कर चुकी है। इसलिए जब हीरोइन का खानासामा भागा तो मैंने उसके यहाँ नौकरी कर ली।

स्टूडियो में जब मैं हीरोइन का खाना लेकर गया तो डायरेक्टर साहब बड़े गुस्से में आये। मुझे बुलाकर उन्होंने पहले डाँटा, फिर प्यार किया, फिर बड़े-बड़े सब्ज़ बाग़ दिखाये। फिर धमकी दी कि वे हीरोइन को मजबूर कर देंगे कि मुझे घर से निकाल दे। लेकिन हीरोइन प्रोड्यूसर की चहेती थी और डायरेक्टर साहब उसके सामने भीगी बिल्ली बन जाते थे और मैं उससे सारी बात कह चुका था, इसलिए जब मैंने उससे डायरेक्टर की धमकी का ज़िक्र किया तो उसने कहा, "तुम परवाह न करो। वह तुम्हें निकालने की कहता है, मैं चाहूँगी तो तुम्हें इसी स्टूडियो में डायरेक्टर बना दूँगी।"

डायरेक्टर......मैं क्षण भर तक मुँह बाये स्तम्भित-सा खड़ा रह गया, क्योंकि बड़े से बड़ा हीरो भी डायरेक्टर बनने के सपने लेता है और मैं तो हीरो और एक्टर दूर रहा, अभी एक्स्ट्रा भी न था। लेकिन वह सच कहती थी। प्रोड्यूसर उसकी मुट्ठी में था, वह चाहती तो क्या न कर सकती? मैंने उसकी बड़ी सेवा की। कुछ लालच से नहीं, सच कहता हूँ, मैं तो उसकी एक झलक देखने के लिए ज़िन्दगी दे देता और यहाँ हर वक्त वह मेरी आँखों के सामने थी। मैं उसे नाश्ता देता था, चाय पिलाता था, खाना खिलाता था। एक दिन जब उसका सिर दर्द कर रहा था तो मैंने उसका सिर तक दबाया...... अब क्या बताऊँ वह रहती तो मैं हीरो छोड़, डायरेक्टर छोड़, प्रोड्यूसर हो जाता। वादे की अपने वह पक्की थी। खुश हो जाती तो क्या न दे देती। उसने मुझे अपनी कम्पनी में अढ़ाई सौ रुपये पर एक्टर (हीरो) भरती करा दिया था। "तुम सब्र करो," उसने कहा, "अगली फ़िल्म में तुम मेरे हीरो होगे"...... लेकिन तभी कम्पनी का यूनिट एक निकट की रियासत में गया। असल में उन दिनों जो फ़िल्म बन रहा था, उसमें हाथियों की ज़रूरत थी। प्रोड्यूसर साहब हीरोइन को साथ लेकर राजा से मिले थे। उन्होंने अपने हाथीख़ाने को काम में लाने

की आज्ञा दे दी थी। कम्पनी का एक यूनिट उनकी रियासत में गया। अस्थायी स्टुडियो बनाया गया। आज़ादी के पहले का ज़माना, राजा सचमुच के राजा थे। जवान थे, नये-नये गद्दी पर बैठे थे। एक दिन सोने-रूपे से लदे हाथी पर चढ़ कर शूटिंग देखने आये। तब जाने हीरोइन को क्या हुआ, महाराज साहब का वैभव अथवा हाथी पर बैठे उनकी छबि उसे कैसी भा गयी कि वह अपनी ख्याति, धन-दौलत और केरियर पर लात मार कर, अपने लाखों चाहने वालों को तड़पता छोड़, उन महाराजा के साथ ही चली गयी। कम्पनी की फ़िल्म धरी-की धरी रह गयी। प्रोड्यूसर साहब ने झुँझला कर नोटिस दिया तो महाराजा ने एक ही चैक में कम्पनी का सारा खसारा भर दिया......और इसे कहते हैं :

'किस्मत की खूबी देखिए टूटी कहाँ कमन्द।'

इसके बाद क्या गुज़री, यह बताऊँ तो न जाने आप को कितने घंटे वह सब सुनना पड़े। इतना समझ लीजिए कि हीरो बनने की तमन्ना अब भी है। वेतन हीरो का पाता हूँ, लेकिन एक्स्ट्रा कहाता हूँ। इसी उम्मीद पर जीता हूँ कि जैसे एक रेला पहले आया था, शायद फिर आ जाय और उसके बल पर मैं किनारे जा लगूँ। इसी उम्मीद पर चुप हूँ। दिल की दिल में रखता हूँ, वरना क्या-क्या नहीं जानता और क्या नहीं कह सकता।

समीक्षा

और इन्सान मर गया—एक भूमिका

सागर का उपन्यास समाप्त कर मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं अभी-अभी कोई भयानक स्वप्न देख कर जगा हूँ। सारा का सारा उपन्यास मैं एक ही बैठक में पढ़ गया। झुँझला कर मैंने इसे एक बार छोड़ा भी, फिर जैसे झख मार कर उठा लिया और आखिर खत्म कर डाला।

एक दो स्थलों पर मुझे इस में कुछ उलझाव लगा, एक आध स्थान पर अतिरंजना, एक-दो जगह अनगढ़ता, एक-आध स्थल पर अपक्वता और भाषा को हिन्दी बनाने का प्रयास सब जगह—जो उर्दू से हिन्दी में आने वाले पंजाबी लेखक की स्वाभाविक विवशता है। परन्तु इनमें से किसी बात ने मेरे पढ़ने की गति में बाधा नहीं डाली। इन त्रुटियों का विचार तो पीछे आया। उस समय तो मेरी दशा उस पथिक की सी थी, जो तूफ़ान में अंधों की तरह बिना इधर-उधर देखे चला जाय—उसकी आँखों में रेत पड़ गयी है, उसका सिर चकरा रहा है, तूफ़ान ने उसे झकझोर डाला है—इन बातों का पता जिसे तभी चले जब तूफ़ान से निकल कर वह

पल भर को सुस्ताये। सागर के इस उपन्यास के प्रवाह में बहते हुए मैंने अपने को उसी पथिक-सा महसूस किया।

उपन्यास को पढ़ चुकने के बाद एक साथ ही मेरे मन में दो परस्पर-विरोधी विचार आये। पहला यह कि अच्छा हुआ मैं अपनी बीमारी के कारण लाहौर न जा सका और उस भयानक स्वप्न के से कष्ट-प्रद अनुभव से बच गया और दूसरा यह कि उन दिनों मैं वहाँ क्यों न हुआ? क्यों पंजाब की इतनी बड़ी ट्रेजेडी पंजाबी होने के नाते मेरी होकर भी मेरी न हुई? क्यों इस ट्रेजेडी का अंग न बन सका?

सागर के उपन्यास के मूल-भूत विचार के अनुसार जैसे मेरा पहला विचार, मेरी स्वरक्षा की सहज भावना का प्रतिरूप है, उसी प्रकार मेरी दूसरी इच्छा मेरे मन में छिपी हुई यंत्रणा-प्रियता (Sadism) अर्थात् दुख देकर अथवा दूसरे को दुख में देख कर सुख पाने की बर्बर भावना का प्रतिबिम्ब है। न जाने यह बर्बर भावना संस्कृति के वाह्यावरणों से ढके हुए इस मानव मन के किस कोने में छिपी रहती है। मित्र आकर ख़बर देता है कि उसने अभी-अभी अपने बाग़ीचे में हाथ भर लम्बा साँप मार डाला, वह सविस्तार बताता है कि कैसे साँप निकला, पीछा करने पर कैसे भागा और किस प्रकार उसने लाठी से उसका सिर कुचल दिया। मन में आता है कि हम वहाँ क्यों न हुए? फिर हम मित्र के साथ जाकर उस मरे अथवा अतीव यंत्रणा से तड़पते हुए साँप को देख कर अपनी यन्त्रणा-प्रियता की इस क्रूर भावना की तृप्ति कर लेते हैं। सागर के उपन्यास को पढ़कर पहली बार ऐसा लगा कि मैं भी इस बर्बर भावना से मुक्त नहीं हूँ।

परन्तु उन दिनों लाहौर होने की मेरी इच्छा का यही कारण नहीं। बात यह है कि इतनी बड़ी ट्रेजेडी ही में अपने अथवा दूसरों के

खरे-खोटे का पता चलता है। अपने आराम-देह कमरों में किसी विपत्ति की सन्निकटता से बहुत दूर बैठे, हम अपने में सभी मानवीय गुण देखते हैं। इनमें से कितने भय, घृणा अथवा प्रतिशोध के पहले स्पर्श की भेंट हो जाते हैं, इसका पता ऐसी ही किसी महान अग्नि-परीक्षा में से गुज़रने पर चलता है।

जो भी हो, सागर के उपन्यास ने, चाहे कुछ घंटों ही के लिए सही, मुझे उस भयानक हत्या-काण्ड के मध्य ला खड़ा किया और मैंने जैसे स्वयं अपनी आँखों से मानवीय और दानवीय भावनाओं का तुमुल युद्ध देखा। यह हाल, मुझे विश्वास है, दूसरे पाठकों का भी होगा और यही मेरे विचार में लेखक की बड़ी भारी सफलता है। उसके भावुक हृदय ने, उस भयानक वीभत्स कांड को देख कर, जब इन्सान इन्सान न रहा, हिंसक पशु से भी कुछ पग आगे बढ़ गया, जो पेचो-ताब खाये हैं, वे सीधे अपने पाठकों के हृदय तक पहुँचा दिये हैं। जो देखा और महसूस किया है, वह पाठकों को दिखा और महसूस करा दिया है।

ख़्वाजा अहमद अब्बास ने इस उपन्यास के उर्दू संस्करण में सागर का परिचय देते हुए उसे रोमान-परस्त, आशिक-मिज़ाज और नफ़ासत-पसन्द कलाकार कहा है। मैं उसकी नफ़ासत-पसन्दी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि उसके निकट रहने का मुझे अवसर नहीं मिला, पर सागर के शेष दो गुण प्रस्तुत उपन्यास से भी यथेष्ट मात्रा में प्रकट हो जाते हैं। उपन्यास की शैली रोमानी है। सागर ने जो शैली चुनी है, वह उर्दू के प्रसिद्ध कहानी लेखक कृष्ण चन्द्र की शैली है जो अपने रोमान की मिठास में बड़ी सफ़ाई से यथार्थ का विष भर दिया करते हैं। वही प्रवाह और वही शब्द-जाल पाठक को सागर के यहाँ मिलेगा, पर जिन लोगों ने कृष्णचन्द्र को पढ़ा है, वे इस उपन्यास को देख कर मानेंगे कि रोमान पर कृष्ण चन्द्र की पकड़

सागर से अधिक हो तो हो, यथार्थ पर सागर की पकड़ कृष्ण चन्द्र से कहीं ज़्यादा है। वह इसलिए कि सागर का यथार्थ जीवन कदाचित कृष्ण चन्द्र की अपेक्षा अधिक संकट-पूर्ण और संघर्ष-मय रहा है। सागर ने साधारण नौकरियाँ भी की हैं और बड़ी भी। क्लर्क, सेल्ज़-मैन, लारी क्लीनर, ख़ज़ान्ची, टाइपिस्ट और न जाने क्या-क्या वह रहा है। यथार्थ की कटुता को उसने कृष्ण चन्द्र से अधिक देखा और महसूस किया है। देखने से मेरा मतलब बाह्य आँखों से नहीं वरन् अन्तर की आँखों से देखना है। देखी हुई चीज़ को हू-ब-हू बयान कर देना उतना कठिन नहीं, पर अनदेखी चीज़ को ऐसे बयान करना कि देखने वाले की आँखों में वह यथार्थ का चित्र उपस्थित कर दे, कठिन भी है और यथार्थ पर लेखक के अधिकार की माँग भी करता है। कृष्ण चन्द्र जब यथार्थ की कल्पना करते हैं (जैसा कि उनकी प्रसिद्ध कहानी 'अन्नदाता' में) तो उनकी वह कल्पना अपने समस्त दूसरे गुणों के बावजूद रोमानी हो जाती है, परन्तु सागर जब यथार्थ की कल्पना करता है (जैसा कि उजागर सिंह द्वारा अपने कुटुम्ब की हत्या अथवा काफ़िले के मार्च में) तो उसकी वह कल्पना, कल्पना न होकर यथार्थ बन जाती है। पंजाब के हत्या-कांड पर बीसियों कहानियाँ लिखी गयीं। कृष्ण चन्द्र ने तो कुछ महीने और कुछ नहीं लिखा (उनमें से अधिकांश हंस में प्रकाशित होकर हिन्दी में आ चुकी हैं) परन्तु एक-आध को छोड़ कर वे सागर के इस उपन्यास जितनी प्रभावशाली नहीं हो सकीं। कारण यही है कि जहाँ कृष्ण चन्द्र ने उस हत्याकांड को बिना देखे, सुनी-सुनायी और पढ़ी-पढ़ायी ख़बरों के बल पर, महज़ कर्तव्य की पूर्ति के लिए 'हम वहशी हैं' आदि कहानियों की सृष्टि की है, वहाँ सागर ने वह सब कुछ देखा भी है और दूसरे साधनों से (सुनी और पढ़ी वार्ता द्वारा) उसका अन्वेषण भी किया है, उसे पूरी शिद्दत से महसूस भी किया है और फिर कला की

रसायन-शक्ति द्वारा उसको सजीव करके उसे हमारे समक्ष उपस्थित कर दिया है। ऐसी स्थिति में लेखक का बयान कर्तव्य न रह कर एक मानसिक (और मैं तो कहूँगा शारीरिक भी) ज़रूरत हो जाता है। वह यह सब न लिखता तो उपन्यास के नायक की भाँति सचमुच पागल हो जाता।

अब यह सवाल कि सागर ने कितना देखा है और कितना नहीं देखा, बेकार हो जाता है। प्रश्न यह होता है कि उसने जो नहीं देखा (अर्थात् जो उसने सुना, पढ़ा और उसके पास परोक्ष—Indirect—रूप से आया) वह उसने महसूस किया है या नहीं? वह उसकी अनुभूति का अंग बना है या नहीं? उसकी कल्पना ने उसे यथार्थ बना कर दिखाया है या नहीं? यहीं सागर कृष्ण चन्द्र से भिन्न है। कृष्ण चन्द्र ने 'हम वहशी हैं' में सुन-सुना कर जो बातें लिखी हैं, वे उनके विचार का अंग तो बनी हैं, पर अनुभूति का अंग नहीं बन सकीं। सागर ने उन्हें अपने अनुभव का अंग बना दिया है। यह सोचना हास्यास्पद है कि जब उजागर सिंह अपने बच्चे की हत्या कर रहा था तो सागर रिपोर्टर बना किसी कोने में छिपा यह सब देख रहा था, परन्तु अपनी आँखों से न देख कर भी कदाचित् सुनी हुई अथवा कल्पित इस घटना का उसने वर्णन किया है, तो ऐसा लगता है कि वह स्वयं उजागर सिंह था और उसी ने अपने बच्चे की हत्या की है। इस स्थल पर उसका चित्रण इतना यथार्थ, इतना मनोवैज्ञानिक है कि मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है।

यही हाल पश्चिमी पाकिस्तान से हिन्दुस्तान आने वाले आठ मील लम्बे काफ़िले की यात्रा के वर्णन का है। चन्द मित्रों ने इसे पढ़ कर समझा है कि सागर उस काफ़िले के साथ था। वास्तव में वह उस काफिले के साथ न था। उस पर हवाई जहाज़ों द्वारा गिरायी जाने वाली रोटियों का वर्णन तो उसने सुना और पढ़ा, परन्तु सागर

का कमाल यह है कि ६६ प्रतिशत पाठक उसे पढ़ कर यही समझेंगे कि सागर ने वह सब अपनी आँखों देखा है। उस चित्रण की अपूर्व सफलता का कारण यह है कि सागर ने कदाचित् उसके सम्बन्ध में पूरा-पूरा अन्वेषण किया है और हरेक घटना को अपनी प्रखर कल्पना द्वारा सजीव करके देखा और दिखाया है। उस चित्रण में जो मानवीयता—अपने समस्त गुण-दोषों के साथ—है, उसे देख कर मुझे तालस्ताय के 'वार एंड पीस' के उस स्थल का जहाँ मास्को में गिरफ़्तार रूसी बन्दी भागती हुई, फ्रांसीसी सेना के साथ भागने को और कल्पनातीत कष्ट सहने को विवश हैं, और शॉलोखाव के उपन्यास 'डान फ्लोज़ होम टु दि सी' में उस स्थल का स्मरण आ गया जहाँ कज़्ज़ाक सैनिक लाल सेना के बन्दी कैदियों को मार्च कराते, अतीव बर्बरता से पीटते और प्रतिशोध से भरे देहातियों से पिटवाते हुए उस्त खोपर्स्क (Ust Khopersk) गाँव से तातार्स्क (Tatarsk) गाँव तक आते हैं। दोनों गाँवों के मध्य उन पर क्या बीतती है, इसे उपन्यास के प्रथम खंड के सत्तरहवें परिच्छेद को पढ़ कर ही जाना जा सकता है। पाकिस्तान से बरबस हिन्दुस्तान आने वाले शरणार्थियों की दशा और तालस्ताय तथा शॉलोखाव के उपन्यासों में वर्णित उन दो बरबस यात्राओं में, स्थितियों तथा उनकी क्रूरता और अपरूपता की भिन्नता के बावजूद बड़ा साम्य है। साम्य है मानव की बेबसी का अथवा उस बेबसी के बावजूद उसकी दृढ़ता का।

मानव के गुण-दोष, उसकी विवशता और दृढ़ता—मृत्यु को (घृणा और प्रतिशोध को भी, जिनकी बर्बरता का अंधकार मृत्यु के अंधकार से कम नहीं) सामने देख कर उसके समस्त हथियार डाल देना अथवा अपने हथियारों को और भी दृढ़ता से पकड़ लेना; अपने सिद्धान्तों को अपनी जान बचाने के हेतु छोड़ देना अथवा अपने सिद्धान्तों के लिए अपनी जान की परवाह न करना; अपने को बचाने

के प्रयास में दूसरों के दुखों के प्रति तटस्थ हो जाना अथवा दूसरों के दुखों को अपना बना लेना—मानव की यह विवशता और यह दृढ़ता आदि काल से चली आयी है। जहाँ तक मानव की विवशता का सम्बन्ध है, सागर ने उसे अपूर्व सफलता से इस उपन्यास में चित्रित किया है। देखे बिना भी उसे अनुभूत बना कर दिखाया है। मानव की दृढ़ता का चित्रण वह उतनी सफलता से नहीं कर सका। कदाचित् इस लिए कि उसे वह अपनी अनुभूति का अंग नहीं बना सका। पर जो वह कर सका, उसका भी महत्व कम नहीं। सफलता के साथ उतना कर सकना भी सुगम नहीं।

यहीं मैं इस संक्रान्ति काल के लेखक, उसकी विवशता, दृढ़ता और उसके आदर्श के प्रश्न पर आता हूँ। हमारे अधिकांश लेखकों और आलोचकों की यह विवशता है (उस विवशता के स्वाभाविक कारण भी हैं) कि जहाँ उनके विचार पक्के हैं, वहाँ अनुभूति कच्ची है। सोचने पर अपने प्रयास को स्तुत्य मानते हुए वे देश में होने वाली प्रत्येक हलचल पर लिखना चाहते हैं—बिहार की महामारी, बंगाल के अकाल, बियालिस का विस्फोट, आर-आई-एन का विद्रोह, स्वतन्त्रता दिवस की यथार्थता, पंजाब के हत्या-कांड की वीभत्सता, शरणार्थियों की दुर्दशा आदि-आदि सब को अपनी लेखनी का विषय बनाना चाहते हैं और जो नहीं बना पाते (बनाने की इच्छा के बावजूद) उन्हें लताड़ते हैं। परन्तु जहाँ उनका मस्तिष्क इस आवश्यकता को छूता है, हृदय उसे उस हद तक नहीं छू पाता कि वे उन हलचलों को अपनी अनुभूति का ऐसा अंग बना पायें जिससे वे एक ऐसी उत्कृष्ट रचना की सृष्टि कर सकें जो केवल उनके कर्त्तव्य ही की पूर्ति न करे, बल्कि उनकी मानसिक और जैसा मैंने कहा है 'शारीरिक आवश्यकता' की पूर्ति भी करे। हमारे अधिकांश लेखक निम्न-मध्य-वर्ग से सम्बन्धित हैं।

जिनका जन्म देहात में हुआ है उनका भी सम्पर्क देहात से नहीं रहा, यही कारण है कि जब वे मज़दूर-किसान की समस्या पर कलम उठाते हैं तो अपनी कृति में वह चीज़ पैदा नहीं कर पाते, जिसे उन जैसा कोई ऐसा निपुण कलाकार पैदा करता जो स्वयं मज़दूरों अथवा किसानों में पला होता और उनकी कठिनाइयाँ जिसकी अनुभूति का अंग होतीं। हाल ही में कृष्ण चन्द्र ने अपनी प्रवाहमयी लेखनी से एक स्ट्राइक और उसमें भाग लेने वाले एक अंधे मज़दूर लड़के को लेकर 'फूल सुर्ख हैं' एक कहानी लिखी है, पर वह ज़ुल्म के सारे चित्रण के बावजूद एक रोमानी कहानी होकर रह गयी है। जहाँ तक देश की हलचलों का सम्बन्ध है, हमारे वर्तमान लेखक अपनी आर्थिक उलझनों तथा दूसरी कठिनाइयों के कारण उनमें सक्रिय भाग नहीं ले सकते। वे दूर बैठकर, जागरूकता के अपने कर्त्तव्य से विवश होकर, हमारे प्रगतिशील आलोचकों के कोड़ों से बचने के लिए (जिनके पास आलोचक का कोड़ा तो है, पर सृजनकर्ता का उत्तरदायित्व तथा कठिनाई नहीं) जो लिखते हैं, वह प्रायः हंगामी तथा सामयिक होकर रह जाता है।

एक दूसरी तरह के लेखक हैं जो सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से इन हलचलों में से किसी न किसी के साथ रहे हैं और उन्होंने उन पर लिखा भी है। सागर इसी दूसरी श्रेणी के लेखकों में है। हिन्दी में अज्ञेय, यशपाल, पहाड़ी, राधाकृष्ण, अमृत राय, विष्णु प्रभाकर, ओंकार शरद, तिवारी तथा अन्य कई लेखकों को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ये लेखक पहले लेखकों से किस तरह लाभ में हैं, इसे बिहार की महामारी के सम्बन्ध में राधाकृष्ण की अमर कहानी "एक लाख सत्तानवे हज़ार आठ सौ अठासी" दिल्ली के साम्प्रदायिक दंगे से सम्बन्धित 'विष्णु' की कहानी 'अगम अथाह' और सागर के इस उपन्यास को पढ़ कर ही जाना जा सकता है। यह भी जाना जा सकता है कि अनुभूत वस्तु की सन्निकटता किस प्रकार कृति को आपसे

आप सजीवता प्रदान कर देती है। इन लेखकों ने उन हलचलों के यथार्थ तत्वों को बड़ी सफलता से चित्रित किया है। बहस क्योंकि सागर के इस उपन्यास से है, इसलिए मैं कहूँगा कि सागर स्वयं उस हत्याकांड का कुछ अंश देखने, उसके हर उतार-चढ़ाव को दिन-प्रति-दिन निरखने और उसका अंग बनने के कारण उस हत्याकांड और उसमें मानव की सीधी-सादी पशु भावनाओं के झकोरों का सफल और सजीव चित्रण कर सका और उजागर सिंह, अनन्ती और निर्मला जैसे यथार्थ चरित्र उपस्थित कर सका।

मैंने उपन्यास के नायक आनन्द का ज़िक्र जान बूझ कर नहीं किया। क्योंकि उपन्यास का नायक ही उसकी दुर्बलता है और यही दुर्बलता प्रायः दूसरी श्रेणी के लेखकों की दुर्बलता बन जाती है, जब वे यथार्थ में किसी आदर्श का समावेश करते हैं। जहाँ सागर ने ऊषा, उजागर सिंह, अनन्ती और निर्मला के चित्रों को तूलिका के दो-चार हाथों ही से उभार दिया है, वहाँ इतने पृष्ठ रंगने पर भी वह नायक की रूप-रेखा को नहीं उभार पाया। आनन्द की दशा बढ़िया पर तैरते हुए एक ऐसे तिनके सी हो गयी है जो चाहता है—कहीं किनारे पहुँचे, पर अन्तर में कोई प्रेरक शक्ति न होने के कारण इधर-उधर थपेड़े खाता है।

आनन्द, लाहौर के दंगे के आरम्भिक दिनों में, एक मुहल्ले में फलने वाली घृणा को देखता है और एक सेठ की लड़की से प्रेम करता है। मौलाना—एक दर्दमन्द मुसलमान मौलवी की सहायता से वह ऊषा को दंगे के बाद बचाने में सफल हो जाता है। रिलीफ़ कैम्प में लड़की, इस भ्रम में पड़ कर कि आनन्द ने उससे इसलिए प्यार करना छोड़ दिया है कि वह मुसलमानों के पास रही है, विष खाकर मर जाती है और आनन्द इस कुण्ठा (Frustration) को लिये हुए उस आग से निकलने के बदले बार-बार उसी आग में प्रकट 'कुछ' करने के लिए

जाता है, परन्तु 'कुछ' महत्व का काम कर नहीं पाता और जब आखिर पश्चिमी पंजाब की उस आग से निकल कर वह पूर्वी पंजाब की हद पर पहुँचता है तो वह उसमें झुलस चुका होता है। इन्सान की इन्सानियत में उसका विश्वास उठ चुका होता है। सागर के शब्दों में आनन्द पागल नहीं होता, बल्कि इन्सान आत्महत्या कर लेता है।

जहाँ तक इन्सान की आत्महत्या का प्रश्न है, आम इन्सान कभी आत्महत्या नहीं करता। आम इन्सान में अपूर्व जीवनी-शक्ति है, चैकोस्लावाकिया में कम्युनिस्ट पार्टी के पत्र Rude Pravo के सम्पादक जूलियस फ़ूचिक (Julius Fuchik) ने अपनी पुस्तक 'फाँसी के तख्ते से' में जहाँ उस भयानक अत्याचार का ज़िक्र किया है जो नाज़ियों ने १६४२ में वहाँ के वासियों पर किया, जहाँ निर्दोष कैदियों को नाज़ी आततायियों द्वारा अतीव अमानुषिक ढंग से पिटते, इंच-इंच करके क़त्ल होते और बिना किसी अदालती कारवाही के गोली का शिकार होते दिखाया है, वहाँ इस शाश्वत सत्य की ओर भी संकेत किया है। फ़ूचिक लिखते हैं :

> They send to death workers, teachers, farmers, writers, officials; they slaughter men, women, children; murder whole families; exterminate and burn whole villages. Death by lead stalks the land, like the plague and make no distinction among its victims.
>
> But in this horror people still live.

अर्थात्—वे मज़दूरों, अध्यापकों, किसानों, लेखकों और अधिकारियों को मौत के घाट उतारते हैं, वे पुरुष-स्त्रियों और बच्चों के टुकड़े-टुकड़े उड़ाते हैं, वे सारे के सारे कुनबों का बध करते हैं, सारे के सारे गाँवों को जला कर तबाह कर देते हैं, मृत्यु गोलियों द्वारा प्लेग की भाँति देश का सत्यानाश कर रही है और अपने शिकारों में किसी तरह की तमीज़ नहीं करती।

परन्तु इस भयानक हत्या-कांड में भी लोग जीते हैं।

People still live—(लोग फिर भी जीते हैं ।) आम इन्सान की यही जीवनी-शक्ति है जो प्रलय के बाद भी उसे फिर नयी सृष्टि बसाने की प्रेरणा देती है ।

रहा खास इन्सान—बुद्धिजीवी, जागरूक मानव—वह भी आत्म-हत्या नहीं करता । जीवन में उसका विश्वास आम इन्सान से अधिक पक्का होता है । जहाँ आम इन्सान मृत्यु से डरता है, वहाँ खास इन्सान मृत्यु से भी नहीं डरता । जीवन के लिए ही वह अपने जीवन की बलि दे देता है । आम इन्सान की क्रूरता, बर्बरता, उपेक्षा, घृणा, स्वार्थ और ओछेपन को वह भली-भाँति जानता है । इनका कारण भी जानता है । इसीलिए जब वह मानव की इन पाशविक वृत्तियों का विस्फोट देखता है तो न घृणा से भागता है, न श्रान्त हो आत्महत्या करता है और न पागल होता है । वह उस समस्त पाशविकता की तह तक पहुँचता है । मानव के इन दोषों के लिए एक अपार करुणा से प्लावित होकर वह उसके सुधारार्थ प्राणों की बाज़ी लगा देता है । वह जीता है तो जीवन के लिए और यदि कहीं अपने प्रयास में मर जाता है तो भी जीवन ही के लिए ।

आनन्द न पहला इन्सान है न दूसरा । उपन्यास के नायक में यह दुर्बलता इस लिए आयी कि शायद वह लेखक की दुर्बलता है । यदि वह अपने आप को केवल यथार्थ के चित्रण तक सीमित रखता तो कदाचित् ठीक रहता । क्योंकि वहाँ वह सिद्धहस्त है (अपने रोमानीपन के बावजूद !) पर उसकी कच्ची विचार-धारा उसे उन पानियों में ले गयी है, जिनकी गहराइयों से वह परिचित नहीं, इस लिए वह गोता खा जाता है ।

मौलाना का चरित्र भी इसलिए हाड़-माँस का नहीं बन सका—अपनी समस्त नेकी और लेक्चरबाज़ी के बावजूद—क्योंकि उसमें लेखक की आस्था केवल बौद्धिक है, अनुभूत नहीं—मौलाना केवल

उसकी 'खुशफ़हमी' का कारनामा है। दूसरी श्रेणी के लेखक, जो अपनी कला और अपने विचारों के प्रति इस हद तक जागरूक नहीं रहते, प्रायः इस दुर्बलता का शिकार हो जाते हैं।

यहीं मैं तीसरी श्रेणी के लेखकों पर आता हूँ, ये लेखक न अनुभूत के बिना लिखते हैं न अनुभूत में, यथार्थ में, आदर्श का समावेश करते हुए डगमगाते हैं। इन्हें यदि हलचल के साथ होने का अवसर मिलता है और यदि वह हलचल उन्हें छूती है तो न केवल वे उसके यथार्थ के चित्रण की प्रतिभा रखते हैं, बल्कि अपने विचारों अथवा आदर्शों के उचित समावेश की भी। बात चूँकि पंजाब के हत्या-कांड की चल रही है इसलिए मैं यहाँ श्री अज्ञेय के 'शरणार्थी' की दो कहानियों 'बदला' तथा 'शरणदाता' और ख्वाजा अहमद अब्बास की 'बदनाम' कहानी 'सरदार जी' का उल्लेख करूँगा—अब्बास की कहानी में टेकनिक की त्रुटियाँ भले ही हों, पर उसने 'हम वहशी हैं' दिखा कर ही सब्र नहीं किया, बल्कि वहशी होते हुए भी हम क्या हैं; किन सद्भावनाओं की योग्यता रखते हैं, यह भी बताया है। यह बात और भी ज़ोर से अज्ञेय की कहानियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, क्योंकि वहाँ कला की भी त्रुटि नहीं। 'बदला' का नायक सरदार 'सरदार जी' के नायक की भाँति मुसलमान द्वारा बचाया नहीं गया, (उसकी कुर्बानी की तह में यह ऋण चुकाने की भावना भी नहीं) वरन् मुसलमानों द्वारा तबाह किया गया है, इस पर भी उसकी जागरूकता मुसलमानों ही को बचाती है।

अतः सागर का नायक यथार्थ और आदर्श किसी कसौटी पर भी पूरा नहीं उतरता। उसकी निराशा न साधारण मानव की निराशा है, न असाधारण मानव की। उसे एक चीत्कार समझिए जो लेखक की लुटी हुई भावुक आत्मा ने उस भयानक हत्या-कांड को देखकर बुलन्द किया है। चीत्कार में सुर-ताल को न ढूँढ़िए, केवल उसकी सीधी सरल अन्तर्वाणी ही को देखिए।

सागर के इस उपन्यास को लेकर इस प्रश्न पर उर्दू क्षेत्र में काफ़ी वाद-विवाद हुआ है कि पंजाब के हत्याकांड में हमारी यन्त्रणा-प्रियता का कितना हाथ है और किसी दूसरी शक्ति अथवा अन्य भावना का कितना ? सागर ने तो प्रकट ही इन सब का अभियोग हमारी यन्त्रणा-प्रियता के सिर थोप दिया है। यह यन्त्रणा-प्रियता हमारे यहाँ अधिक है अथवा यूरोप में, इस बात पर बड़ी तेज़ बातें एक दूसरे की ओर से कही गयी हैं। इसी लिए यहाँ इस प्रश्न पर मेरे लिए भी चन्द बातें कहना अनिवार्य हो गया है।

अब्बास साहब ने जहाँ अपनी भूमिका में यह लिखा है कि इस हत्याकांड और इसमें प्रदर्शित बर्बरता का कोई एक कारण नहीं, वहाँ मैं उनसे सहमत हूँ, क्योंकि इतनी बड़ी दुर्घटना के बदले यदि हम किसी छोटी सी घटना का भी विश्लेषण करें और उसका ठीक कारण खोजना चाहें, तो हमें मानव मन की कई उलझनों को सुलझाना होगा। इतने अधिक आदमियों ने इतने अधिक आदमियों की हत्या, इतनी क्रूरता और बर्बरता से कर दी, स्त्रियों और बच्चों पर अमानुषिक अत्याचार किये, इसके बदले यदि हम एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति की हत्या का ठीक-ठीक विश्लेषण करें। (फिर चाहे वह हत्या पत्नी से ऊबे हुए पति अथवा पति से ऊबी हुई पत्नी ने की हो अथवा महज़ किसी डाकू ने किसी पूँजीपति की) तो हम पायेंगे कि कारण एक नहीं अनेक हैं वैयक्तिक, आर्थिक, शारीरिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि-आदि।

लेकिन जहाँ अब्बास हिन्दुस्तानियों की बर्बरता की तुलना में दूसरों की बर्बरता को कम बताते हैं, वहाँ मैं उनसे सहमत नहीं। पंजाब में जो कुछ हुआ, वह सामान्य मनःस्थिति के (Normal) मानवों का किया-धरा नहीं था। (सामान्य से असाधारण मनःस्थिति को वे किन कारणों से पहुँचे, इसके लिए भारत के लम्बे इतिहास

को पढ़ना पड़ेगा) और असाधारण मनःस्थिति में साधारण मनुष्य क्या कुछ नहीं कर सकता, इसे वही जानते हैं जो स्वयं उस असाधारण मनःस्थिति से गुज़र चुके हों। शालोखॉव के उपन्यास का उपर्युक्त स्थल पढ़ने पर हम जान लेंगे कि असाधारण मनोदशा में हिन्दू मुसलमान अथवा मुसलमान हिन्दू ही की तिक्का-बोटी नहीं उड़ा सकता, बल्कि भाई-भाई की, चचा-भतीजे की, आदमी अपने सगे-सम्बन्धियों की बोटी-बोटी अतीव निर्दयता से उड़ा सकता है। पुरुष तो पुरुष, डेरिया-सी नारी तक विरोधियों के हाथों निर्दयता से पिट कर मरनासन्न आइवन (अपने निकट सम्बन्धी) को गोली का शिकार बना सकती है, और जो बात पंजाबियों (या पाकिस्तानियों) अथवा रूसियों के बारे में कही जा सकती है, वही जर्मनों, अंग्रेज़ों अथवा अमरीकियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आदमी हर स्थान, हर प्रदेश में आदमी है, और जब असाधारण परिस्थितियाँ उसकी प्रकृत भावनाओं पर से वाह्यावरण हटा देती हैं तो वह एक दूसरे से भिन्न नहीं दिखायी देता, पुराने उपन्यासों का यही क्लासिक गुण है कि वे मानव के गुण-दोषों का यथार्थ चित्रण करते हैं। उनकी यही खूबी उन्हें आज भी प्रिय बनाये हुए है। गोगोल ने अपना उपन्यास 'मृत रूहें' (Dead souls) एक सदी पहले लिखा, परन्तु आप अपने आस-पास देखेंगे तो उस उपन्यास के अधिकांश पात्र आपको अपने इर्द-गिर्द नज़र आ जायेंगे। और मुझे प्रसन्नता है कि यदि सागर पंजाब की दुर्घटना के कारणों की गहराई में नहीं जा सका (अथवा यों कहना चाहिए कि सभी कारणों की गहराई में नहीं जा सका) तो उसने कम से कम घृणा, प्रतिशोध और साम्प्रदायिकता की बढ़िया में बहते हुए मानवों की मनःस्थिति, उनके आवेग, आवेश, भय और विवशता का सजीव और मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है, जो कई स्थलों पर क्लासिक हो गया है और यह कोई छोटी सफलता नहीं।

कोणार्क—एक परिचय

१९४० की बात है, मैं आल इण्डिया रेडियो दिल्ली में नया-नया आया था। उन्हीं दिनों अचानक एक दिन अज्ञेय जी के यहाँ श्री कान्तिचन्द्र सोनरेक्सा से भेंट हो गयी। मैंने उनके एक-दो नाटक भगवती बाबू के 'विचार' में पढ़े थे। हिन्दी के नाटकों पर बात चली तो सोनरेक्सा जी ने श्री जगदीशचन्द्र माथुर का नाम लिया और कहा कि नाटक लिखने में जो सिद्धि उन्हें है, वह हिन्दी में विरले लेखकों ही को प्राप्त है। उस समय तक मेरे एकांकी नाटकों का एक संग्रह 'देवताओं की छाया में' प्रकाशित हो चुका था और 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' बहुत लोकप्रिय हुए थे। मैंने डा० रामकुमार वर्मा के नाटक पढ़े थे, भट्ट जी के नाटक पढ़े थे, पर श्री माथुर के नाटक पढ़ना तो दूर रहा, उनका नाम भी न सुना था। मुझे बड़ी हैरत हुई कि ऐसा कौन सा सिद्धि-प्राप्त नाटककार है, जिसका नाम भी मैंने नहीं सुना।

कुछ दिनों बाद पता चला कि माथुर साहब आई० सी० एस० हो गये हैं और यद्यपि सोनरेक्सा जी ने कई बार उनकी प्रशंसा की, पर मैंने कोई महत्त्व नहीं दिया। बड़े पदों पर चले जाने वाले साहित्यिकों

के बारे में मुझे कभी वैसा उत्साह नहीं रहा। मेरे अपने दो एक मित्र हैं जो बड़े अच्छे साहित्यिक थे और जिनकी प्रतिभा को देख कर लगता था कि वे किसी समय साहित्याकाश पर पूरी तरह छा जायेंगे, किन्तु दफ़्तरों की फ़ाइलें, ब्लाटिंग पेपर की भाँति उनकी प्रतिभा की रोशनाई को पी गयीं।

मुझे यह मानने में संकोच नहीं कि उसके बाद जगदीशचन्द्र माथुर मेरी याद से बिलकुल उतर गये। दस साल बीत गये। रेडियो को छोड़ कर मैं पब्लिक रिलेशन्स विभाग, फिर बम्बई की फ़िल्मी दुनिया और फिर पंचगनी सेनिटोरियम से होता हुआ इलाहाबाद आया। फिर जिस प्रकार पहले मैंने अचानक माथुर साहब का नाम सुना था, उसी प्रकार फिर अचानक उनका नाम सुनायी दिया और फिर यही बात जानने को मिली कि जहाँ तक रंगमंच का सम्बन्ध है, वे बहुत ही अच्छा नाटक लिखते हैं। न केवल यह, बल्कि उनके नाटक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रंगमंच पर सफलता पूर्वक खेले भी जाते रहे हैं और न केवल उन्हें नाटक लिखने का शौक है, बल्कि वे स्वयं भी नाटक खेलते रहे हैं। इस बार जिन मित्र ने उनकी प्रशंसा की उन्होंने कृपा कर मेरे अनुरोध पर विश्वविद्यालय की लायब्रेरी से माथुर साहब के एकांकियों का संग्रह 'भोर का तारा' भी पढ़ने को ला दिया। मैं एक ही बैठक में अन्तिम नाटक को छोड़ कर उस संग्रह के सभी नाटक पढ़ गया और मुझे वे नाटक बड़े ही पसन्द आये। उस संग्रह का नाटक 'रीढ़ की हड्डी' तो मुझे इतना अच्छा लगा कि मैंने उसे उन्हीं दिनों संकलित होने वाले एक संग्रह में रखा और माथुर साहब का पता लेकर उनसे उस नाटक को संगृहीत करने की आज्ञा चाही। और यों उनका मेरा परिचय हुआ। फिर उनसे मिलने का भी अवसर मिला और पिछले बरस जब मैं पटना गया तो उन्होंने मुझे 'नई धारा' की वे प्रतियाँ दीं जिनमें 'कोणार्क' पहली बार छपा था। नाटक के साथ

पुस्तक में परिशिष्ट रूप से जो लेख उन्होंने दिया है, उसे भी पुस्तक रूप में आने से पहले पढ़ने का सौभाग्य मुझे मिला है ।

'कोणार्क' जैसा कि अब 'भारती भंडार', लीडर प्रेस, इलाहाबाद से छपा है, 'नई धारा' के उस रूप से कुछ भिन्न है। माथुर साहब ने इसमें उपक्रम और उपसंहार जोड़ दिये हैं, जिसमें नाटक की पूर्व तथा अपर कथा देने का उन्होंने प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक मुख्य नाटक का सम्बन्ध है, वह पहले से कहीं अधिक सुष्ठ, पुष्ठ और परिष्कृत है। अन्तिम अंक को लेखक ने अत्यन्त प्रभावोत्पादक बना दिया है ।

पुस्तक की भूमिका में कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है :

> "कोणार्क लेखक की अत्यन्त सफल कृति है। हिन्दी में नाट्यकला की ऐसी सर्वाङ्ग पूर्ण सृष्टि मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिली। इसमें प्राचीन-नवीन नाट्यकला का अत्यन्त मनोरम सामञ्जस्य है। विषय-निर्वाचन, कथावस्तु, क्रम-विकास, संवाद-ध्वनि, मितव्ययता आदि सभी दृष्टियों से 'कोणार्क' एक अद्भुत सुन्दरी और संतुलित कला-कृति है।"

पन्त जी की इस बात से मैं पूर्णतः सहमत हूँ। नाटक को पढ़ते-पढ़ते अनायास उसकी कथा-वस्तु का गठन और कथानक का असमंजस मन को बाँध लेता है। साधारणतः कोई नाटक स्त्री पात्र के बिना पूरा नहीं समझा जाता, किन्तु 'कोणार्क' में एक भी स्त्री पात्र नहीं, तो भी इसके कथानक की मनोरंजकता विवाद से परे है। हिन्दी रंगमंच की आज की स्थिति में जब प्रायः उपयुक्त स्त्री पात्र नहीं मिलते (विशेष कर पुराने समाज के रंगमंचों पर और लड़कियों की भूमिका में लड़कों का पार्ट करना अत्यन्त हास्यास्पद लगता है) 'कोणार्क' ऐसे स्त्री पात्र-विहीन सफल नाटकों का सृजन अभिनन्दनीय है।

'कोणार्क' की कहानी उड़ीसा में सूर्य देवता के प्रसिद्ध देवालय को लेकर लिखी गयी है। लेखक ने उड़ीसा के अपने कार्य-काल में इस मन्दिर के भग्नावशेषों को देखा, उसके सम्बन्ध में उड़ीसा की किम्वदन्तियाँ सुनीं, उसके इतिहास को जाना और उसकी कल्पना में 'कोणार्क' के भग्नावशेष की कहानी नवोदित किरण-सी अँगड़ाई लेकर जाग उठी।

'कोणार्क' के खंडहर ने लेखक को क्यों इतना प्रभावित किया कि वह इतना सुन्दर नाटक लिखने को विवश हुआ? इसका कारण है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक, उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल, भव्य और कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ, जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला की भव्यता के साक्षी-स्वरूप खड़े हैं। जैसा कि लेखक ने स्वयं अपने परिचय में लिखा है—इन में सर्वश्रेष्ठ मन्दिर सूर्य देवता का देवालय है। 'कोणार्क' के इस देवालय के सम्बन्ध में दो-चार बातें सहज ही मन में आती हैं। एक तो यह कि मध्यकालीन उड़ीसा के मन्दिरों की परम्परा में यह अन्तिम मन्दिर है। इसके बाद न जाने कैसे और क्यों, उड़ीसा में उस कोटि और शैली के मन्दिरों का बनना एक दम बन्द हो गया, जैसे शिल्पियों का कुल ही नष्ट हो गया हो।

दूसरे इस मन्दिर की उप-पीठ पर अंकित युगल मूर्तियाँ आधुनिक विचार से अत्यन्त अश्लील हैं और उनका उद्देश्य समझ में नहीं आता, फिर अत्यन्त रहस्य पूर्ण बात यह है कि मध्यकालीन उड़ीसा का अन्य कोई मन्दिर (यद्यपि वे सब इससे पहले बने हैं) इतनी खंडित और भग्नावस्था में नहीं है।

मैं लेखक की स्थिति की कल्पना कर सकता हूँ। 'कोणार्क' की खंडित भव्यता को देखकर उसके मन में अनायास उसका कारण जानने की उत्सुकता हुई होगी, बार-बार उसके मन में यह प्रश्न

उठा होगा कि वे हाथ जिन्होंने जगन्नाथपुरी और भुवनेश्वर के विशाल, भव्य देवालय निर्मित किये, जिन्होंने इतनी सुन्दर कला-कृतियों का सृजन किया, वे क्या हुए ? शिल्पियों का वह कुल कहाँ तिरोहित हो गया और किम्वदन्तियों, इतिहास और कल्पना के समावेश से उसने यह अनुपम कहानी रच डाली।

महाशिल्पी विशु अपनी युवावस्था की एक भयानक भूल के पश्चात्ताप में, अपनी उस प्रेयसी की याद को लिये हुए जिसे वे गर्भावस्था में छोड़ आये थे (क्योंकि जाति भेद के कारण उसका पाणिग्रहण न कर सकते थे) अपने एकाकी जीवन को कला की साधना में लगाये हुए हैं। एक के बाद एक भव्य विशाल मन्दिर वे निर्मित करते आ रहे हैं और अन्त में कला-प्रेमी उत्कल-पति राना नरसिंह देव की इच्छा के अनुसार सूर्य देव का विशाल देवालय बना रहे हैं। पत्थर का यह मन्दिर उनकी कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शनीय, सुगन्ध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। किन्तु उसकी महती कल्पना उसके निर्माता की बुद्धि के परे हो चली है। उसके अम्ल के ऊपर का त्रिपटधर महाशिल्पी विशु स्थापित नहीं कर पाते। दस दिन से वे हर प्रकार की कोशिश करके हार गये हैं। तभी महामात्य राज चालुक्य सहसा वहाँ आ उपस्थित होते हैं और घोषणा करते हैं कि यदि सात दिन के अन्दर-अन्दर मन्दिर पूरा न हुआ तो वे सारे कारीगरों के हाथ कटवा देंगे। महामात्य चालुक्य सामन्तों और जागीरदारों की सहायता से षड्यन्त्र कर, महाराज नरसिंह देव की अनुपस्थिति का लाभ उठा कर अपने आप को महा दंडपाशिक घोषित कर उनकी गद्दी छीनने की कोशिश कर रहे हैं। नगरी की सारी पुलिस उन्होंने अपने अधिकार में ले ली है और इसी लिए महामात्य ने मन्दिर पर काम करने वाले शिल्पियों और मजदूरों की जमीनें छीन कर जागीरदारों को दे दी हैं। उस समय जब कोणार्क के शिल्पी उस अत्याचार

से पीड़ित थे, हाथ काटे जाने का यह आदेश वज्र सरीखा उनकी सारी संज्ञा हर लेता है। ऐसे संकट के समय में, जब महाशिल्पी विशु का मस्तिष्क सोचने पर भी कुछ सोच नहीं पाता, एक अठारह वर्षीय युवक धर्मपद, जो उनके अधीन काम करने वाले बारह सौ कारीगारों में से एक कारीगर है, महाशिल्पी विशु की सहायता को आता है। मन्दिर का त्रिपटधर अम्ल पर पूरा आ जाय, इसका ज़िम्मा लेता है। शर्त यही है कि जब मन्दिर पूरा हो जाय और उसमें मूर्ति का प्रतिष्ठापन हो तो एक दिन के लिए धर्मपद को महाशिल्पी के समस्त अधिकार दे दिये जायँ।

महाशिल्पी विशु इतने उद्विग्न हैं, अपने साथ काम करने वाले शिल्पियों के हाथों के काटे जाने के संकट से वे इतने संत्रस्त हैं कि वे धर्मपद की बात मान लेते हैं। यहीं हम धर्मपद को विद्रोही कलाकार के रूप में देखते हैं। विशु वे कलाकार हैं, जो जीवन के संघर्ष से दूर रह कर कला का सृजन कर रहे हैं और धर्मपद वह स्फूर्तिशील शिल्पी है, जो जीवन के संघर्ष को साथ लेकर कला का सृजन करना चाहता है। यहीं हम उन अश्लील मूर्तियों की व्याख्या भी पाते हैं, जिनके निर्माण का कारण नाटक के लेखक को सदा परेशान करता रहता होगा और यहीं नाटक के सम्वादों का भी बड़ा ही सुन्दर ओज पूर्ण रूप मिलता है!

धर्मपद : कला मेरे जीवन का साधन है। मैं उससे अपना पेट भरता हूँ, भरण-पोषण करता हूँ।

विशु : वह सारे जीवन का प्रतिबिम्ब है। देखो, हमारे कोणार्क देवालय को आँख भर कर देखो। यह मन्दिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियाँ इसके स्तम्भों, इसकी उप-पीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं, उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो उनमें मनुष्य के सारे

कर्म, उसकी सारी वासनाएँ, मनोरंजन और मुद्राएँ चित्रित हैं। यही तो जीवन है।

धर्मपद : क्षमा करें आचार्य, शृङ्गार-मूर्तियों को देखते-देखते मैं अघा गया हूँ।

विशु : तो तुम उन लोगों में से हो जो इन प्रणय-मूर्तियों में अश्लीलता देखते हैं। जीवन का आदि और उत्कर्ष नहीं।

धर्मपद : जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है। जीवन का संघर्ष। अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस संघर्ष को भूल गयी है। जब मैं इन मूर्तियों में बँधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाये हुए किसानों की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे की, इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य!

विशु : लेकिन कला जीवन नहीं है, कला की पूर्ति चयन में है, छाँटने में है। जंगल में तरह-तरह के फूल, पौधे, वृक्ष चाहे जहाँ उगे रहते हैं, लेकिन उपवन में माली छाँट-छाँट कर सुन्दर और मनोमोहक पौधों और वृक्षों को ही रखता है।

धर्मपद : छाँटने वाली आँखों का खेल है आचार्य। आज के शिल्पी की आँखें वहाँ नहीं पड़तीं, जहाँ धूल में हीरे छिपे पड़े हैं।

दूसरे अंक पर पर्दा पन्द्रह दिन बाद उठता है। महाराज नरसिंहदेव यवनों को हरा कर सेना को वहीं जंगल में छोड़कर मन्दिर को देखने की उत्सुकता से भर कर, महामात्य के षड्यन्त्र से बेख़बर, चले

आते हैं। महामात्य चालुक्य षड्यन्त्र कर पीछे रह जाते हैं और महाराज नरसिंह देव को मन्दिर में अकेला पाकर मन्दिर को सेना समेत घेर लेते हैं। धर्मपद उस समय मन्दिर में काम करने वाले पाँच हज़ार शिल्पियों और मज़दूरों की कमान सम्हालता है और मन्दिर के द्वार बन्द कर युद्ध का संचालन करता है। योजना यह है कि किसी प्रकार महामात्य की सेना को रात तक रोका जाय। रात के समय मन्दिर के पिछवाड़े से नौका लेकर महाराज नरसिंह देव जगन्नाथपुरी पहुँच जायें और वहाँ से सेना लेकर महामात्य को दंड दें।

तीसरे अंक में हम देखते हैं कि धर्मपद ने बड़ी कुशलता से सेना का संचालन कर महामात्य की सेना को रोक दिया है। राजा नरसिंह-देव नौका से चले गये हैं, लेकिन धर्मपद बुरी तरह घायल हो गया है। महा शिल्पी विशु आरम्भ ही से धर्मपद के प्रति कुछ विचित्र स्नेह का अनुभव करते थे। यहीं से वे पाते हैं कि धर्मपद और कोई नहीं, उन्हीं की परित्यक्ता प्रेयसी चन्द्र लेखा का पुत्र है। और तब उसके जन्मजात ओज, प्रतिभा और शिल्प निपुणता का भेद खुल जाता है और विशु चाहते हैं कि किसी प्रकार अपने उस पुत्र को बचा लें। उस समय जब कोणार्क के अन्दर युद्ध करने वाले शिल्पी और मज़दूर या तो खेत रहे थे या घायल होकर क्लान्त पड़े थे, महामात्य के सैनिक मन्दिर की चहारदीवारी को तोड़ कर आ घुसते हैं। होश में आकर धर्मपद उनका मुक़ाबला करने बाहर निकल जाता है। विशु सुनते हैं कि वह मारा गया कि उसकी बोटियाँ समुद्र में फेंकी जा रही हैं और तब क्रोध में आकर शिल्पियों के घातक उस महामात्य को उसकी क्रूरता का दण्ड देने के लिए, महाशिल्पी विशु का चिर-सुप्त विद्रोही कलाकार जाग उठता है। वे सूर्य देव की उस मूर्ति पर, जो मन्दिर से पाँच फ़ुट ऊपर बिना किसी आधार के, चुम्बकों के आकर्षण से बीचों-बीच खड़ी है, चढ़ जाते हैं और ऐन उस वक्त जब महामात्य अपने मुख्य सैनिकों

के साथ महाराज नरसिंह देव को ढूँढ़ते हुए अन्दर आते हैं, क्रोधी विशु चुम्बकों को हटा देते हैं। महामात्य के सैनिकों के आर्तनाद और गिरते हुए मन्दिर की गड़गड़ाहट के बीच तीसरे अंक पर पर्दा गिर जाता है।

और इस तरह कोणार्क के भग्नावशेष का कारण ढूँढ़ते हुए श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने इस अपूर्व नाटक का सृजन किया है, जो एक ओर उस युग की भव्यता को हमारे सामने उजागर कर देता है, दूसरी ओर उस भव्यता के पार्श्व में पिसती हुई जनता की समस्याओं को उनकी समस्त कटुता और यथार्थता के साथ हमारे सामने रख देता है। नाटक का अन्त और उसकी ट्रेजेडी यूनानी नाटकों की याद दिलाती है और उसका गठन और उसमें नाटक की इकाइयों का संचालन इसे अत्याधुनिक बना देता है।

सूरज का सातवाँ घोड़ा—एक समीक्षा

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' श्री धर्मवीर भारती का नया उपन्यास मेरे सामने आया तो मैंने उसे एक ओर रख दिया, एक दम उसे पढ़ने का उत्साह नहीं हुआ। इससे पहले उनका बड़ा उपन्यास 'गुनाहों का-देवता' मैंने पढ़ा था या यों कहूँ कि पढ़ना शुरू किया था, पर पूरा पढ़ न पाया था। मैं ऐसे मित्रों को जानता हूँ जो उसे पी-से गये थे और उसे पढ़ कर आनन्द से विभोर हो उठे थे। या तो मैं उस उमर से गुज़र गया हूँ, जहाँ वैसे रोमानी, अफ़लातूनी (Platonic) प्रेम से भरे, झिलमिलाते भड़कीले महीन वस्त्रों में आवृत, यन्त्र-चालित मूर्तियों की गति-विधि का दिग्दर्शन कराने वाले उपन्यास अच्छे लगते हैं या मेरी दृष्टि का कोण दूसरा है। जो भी हो, मुझे 'गुनाहों का देवता' नव-वय के युवक के आदर्शवादी, स्वप्निल, अफ़लातूनी, अवास्तविक प्रेम का उपन्यास लगा। लेखनी भारती की बड़ी प्रवाहमयी, रोमानी और अपने साथ बहा ले जाने वाली है। कृष्णचन्द्र की रोमानी लेखनी की तरह भारती की रोमानी चीज़ों को पढ़ते हुए भी पाठक शब्दों के अर्थ को जानने के लिए नहीं रुकता, उसके साथ बहता चला जाता है, लहरों का लेखा जोखा लेना उस बहाव में सम्भव नहीं दीखता, बस

बहते चले जाने की अनुभूति-भर शेष रह जाती है और उसी बहाव के बल पर मैं उपन्यास में काफ़ी हद तक बढ़ भी गया था, लेकिन तो भी समाप्त न कर पाया था। इसलिए जब भारती का यह नया उपन्यास सामने आया तो 'गुनाहों का देवता' की याद हो आयी और मैंने उसे एक ओर रख दिया।

लिखते-लिखते किसी दूसरी पुस्तक को उठा कर उसके चन्द पन्ने पलटने की मेरी पुरानी आदत है। कई बार जब पुस्तक दिलचस्प होती है तो मेरा लिखना बीच ही में रह जाता है। उसी आदत से विवश होकर मैंने एक ओर रख देने पर भी 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' फिर उठा लिया। मुझे यह मानने में संकोच नहीं कि एक बार आरम्भ करने पर मैं चन्द पृष्ठों को छोड़कर उसे सब का सब पढ़ गया। मुझे यशपाल के 'पार्टी-कामरेड' की याद हो आयी, जिसे मैं इसी तरह अपना काम करते-करते एक ही सिटिंग में पढ़ गया था।

'गुनाहों का देवता' ४४७ पृष्ठ का उपन्यास है; उसकी तुलना में भारती के इस उपन्यास की परिधि, भूमिकाएँ निकाल दें तो, केवल एक सौ बारह पृष्ठों तक ही सीमित रह जाती है, किन्तु इस छोटी सी परिधि के बावजूद, इसका महत्व 'गुनाहों का देवता' से कम नहीं, कहीं ज़्यादा है। दोनों उपन्यासों के अन्तर को पुस्तकों के प्रावरण (रैपर) की चन्द पंक्तियाँ पढ़ कर ही जाना जा सकता है, 'गुनाहों का देवता' का परिचय देता हुआ प्रावरण कहता है :

> "एक थी सुधा; दूज के चाँद सी मासूम, हरिण की आँखों सी भोली और निष्पाप, जिसकी कुँआरी साँसों का देवता था चन्दर, दोनों ही एक इन्द्रधनुषी सपने के सम्मोहन में अपने-अपने मन के स्पन्दन को समझ ही नहीं पाये कि एक दिन चन्दर ने हँसते हुए अपने हाथों सुधा के जीवन को दूसरी पगडण्डी पर मोड़ दिया।"

और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का रैपर उपन्यास का यों परिचय देता है :

> "इसकी विषय वस्तु है, हमारे निम्न मध्यवर्ग के जीवन का सही-सही चित्र, यह सत्य है कि यह चित्र प्रीतिकर या सुखद नहीं है, क्योंकि उस समाज का जीवन वैसा नहीं है और भारती ने यथा-शक्य उसका सच्चा चित्र उतारना चाहा है।"

अपने इस छोटे से उपन्यास में भारती ने बहुत कुछ कहने का प्रयास किया है। निम्न मध्यवर्ग के युवक-युवतियों की कुंठा, निम्न-मध्य वित्त के लोगों का खोखला वैवाहिक जीवन, झूठा धर्माचार, नैतिकता और 'आध इंच जमी बर्फ़ की सफ़ेदी के नीचे गँदले पानी की अथाह गहराइयाँ'—यह सब दिखाने के साथ भारती ने कहानी-कला, मार्क्सिज़्म और भविष्य के सम्बन्ध में कुछ आशावादी विचार देने का भी प्रयास किया है। फिर साथ ही ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ताओं और संकुचित दायरे में सोचने वाले प्रगतिशीलों पर भी चलते-चलते छींटे कस दिये हैं। और यों गागर में सागर बन्द करने का प्रयास किया है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारती ने एकदम नयी तेकनिक अपनायी है, वह तेकनिक यों चाहे 'अलिफ़ लैला' और 'पंच-तन्त्र' जितनी पुरानी हो, पर जहाँ तक आधुनिक उपन्यास का सम्बन्ध है, अपने ढंग की अनूठी है।

माणिकमुल्ला के घर में हर रोज़ एक कहानी सुनायी जाती है, जिस के बारे में मित्र रात में तर्क-वितर्क करते हैं और इस प्रकार अन्त तक पहुँचने पर पता चलता है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' एक कहानी में अनेक कहानियाँ ही नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी

भी है और वह निम्न मध्यवर्ग के जीवन का चित्रण ही नहीं, आलोचना भी है।

भारती उपन्यासकार ही नहीं, कवि और आलोचक भी हैं और राजनीति में सोशलिस्ट पार्टी से सहानुभूति भी रखते हैं, इसलिए उपन्यास में कहानी के साथ अनायास वह सब आ गया है, जिसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। राजनीति में भारती के जो विचार हैं, वे एक ओर उन्हें पुराने से विद्रोह करने पर मजबूर करते हैं, दूसरी ओर एक दम नये से डरने को विवश! और इसीलिए जहाँ तक पुराने जीवन के प्रति विद्रोह का सम्बन्ध है, वहाँ तक उनकी क़लम ने बड़े ही सुन्दर चित्र उतारे हैं, पर यद्यपि भविष्य के नाम पुस्तक का पूरा एक परिच्छेद उन्होंने सर्फ़ कर दिया है, वे उसका साफ़ चित्र नहीं दे पाये। सिवाय यह कहने के कि सूरज का सातवाँ घोड़ा भविष्य के सपनों का घोड़ा है—भविष्य के सपनों का, जिन में हमारी ज़िन्दगी ज़्यादा अमन-चैन और पवित्रता की होगी। आशा की इन्हीं पंक्तियों के कारण भूमिका लेखक को 'भारती' के इस उपन्यास में अदम्य और निष्ठामयी आशा दिखायी दी है। किन्तु यह आशा उपन्यास की अन्तर्भूत आशा नहीं, ऊपर से लादी गयी है। लगता है कि भारती ने निम्न मध्यवर्ग के जीवन का जो कुछ देखा, उसके यथार्थ को व्यक्त करने के लिए यह उपन्यास लिखा, पर छै कहानियाँ लिखने पर उन्हें लगा कि अरे यह तो घोर अन्धकारमय हो गया है, तब भविष्य के सम्बन्ध में उनके जो विचार है, वे उन्होंने एक परिच्छेद में रख दिये। लेकिन उस आशा को पाने के लिए आलोचक तो अवश्य सातवाँ घोड़ा वाला परिच्छेद पढ़ेगा, किन्तु पाठक भी ऐसा कर सकेगा, इसमें मुझे सन्देह है। कभी सभाओं में ऐसा होता है कि भाषणदाता भाषण के शुरू में श्रोताओं को आकर्षित करने के लिए कोई कहानी सुनाने लगता है और श्रोता दत्त-चित्त होकर कहानी के पात्रों के दुख के साथ दुखी होकर मन्त्रमुग्ध-

बैठे रहते हैं, किन्तु जब वह कहानी खत्म करके एक विरस-सा लेक्चर झाड़ने लगता है तो वे उठने लगते हैं। मुझे उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद को देख कर किसी ऐसे ही भाषणदाता की याद हो आयी। यदि पाठक के रूप में मुझसे पूछा जाय तो मैं उस सब को, जो निष्कर्ष-स्वरूप अन्तिम परिच्छेद में दिया गया है और जिसके महत्व को जनाने के लिए पुस्तक का नाम 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' रखा गया है, किसी ऐसी ही एक कहानी में पढ़ना चाहूँगा, जो माणिक मुल्ला सुनाता है। एक कहानी में यदि वह सब सम्भव न हो, तो किसी दूसरे उपन्यास की कहानी माला द्वारा उस भविष्य का चित्र दिया जाय, पर इस रूप में तो वह परिच्छेद उपन्यास के एक निष्क्रिय अंग के समान है।

अन्तिम परिच्छेद और दूसरी छींटाकशी को छोड़ दिया जाय तो कहानी का गुम्फन भारती ने उपन्यास में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है और निम्न मध्यवर्ग के जीवन का यथार्थ चित्रण कम से कम, जहाँ तक उसके स्त्री-पुरुषों के वैवाहिक जीवन के झूठ और खोखलेपन का सम्बन्ध है, भारती बड़ी ही निपुणता से कर गये हैं।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जमुना, लिल्ली, सत्ती, तन्ना और माणिक मुल्ला की कहानी है। इनमें से जमुना का चित्रण बहुत ही अच्छा बन पड़ा है। 'बहुत' शब्द को मैं रेखांकित करना चाहूँगा। उपन्यास में यदि और कुछ न होता तो भी निम्न मध्यवर्ग की झूठी नैतिकता, उसके आर्थिक ढाँचे की पेचीदगियों में पिसती हुई जीती-जागती जमुना का चित्रण ही उपन्यास को हिन्दी की यथार्थवादी परम्परा के चन्द एक महत्वपूर्ण उपन्यासों में जगह देने के योग्य बना देता, किन्तु जमुना के साथ-साथ भारती ने निम्न मध्यवर्ग के भीरु युवक का भी चित्र माणिक मुल्ला के रूप में, बड़ी ही सफ़ाई से हास्य के आवरण में लपेट कर प्रस्तुत

कर दिया और निम्न मध्यवर्ग के युवक-युवतियों के प्रतीक इन दो पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए भारती बधाई के पात्र हैं।

जमुना, माणिक मुल्ला और तन्ना के चित्र जहाँ अपने में पूर्ण हैं वहाँ सत्ती और लिल्ली के चित्र अपूर्ण भी हैं। लगता है कि भारती ने इन पहले तीनों पात्रों के जीवन को शुरू से अन्त तक देखा है और इसीलिए उनके सभी सूत्र एकदम मिले और गठे हैं, किन्तु सत्ती और लिल्ली के जीवन की झलक ही उन्होंने पायी है और जहाँ उन्होंने कल्पना से काम लिया है, वहीं गच्चा खा गये हैं। सत्ती के जीवन का वह चित्र जो उन्होंने उसके मोहल्ले से निकल जाने तक दिखाया है, अपने में पूरा है। वह सत्ती इतनी यथार्थ दिखायी देती है कि उसकी हर बात और हर अदा हमें जानी पहचानी लगती है, किन्तु इसके बाद उसकी जो झलक हम देखते हैं, वह एक दम नाकाबिले-कबूल है। पहली बात तो यह कि निम्न मध्यवर्ग के जीवन के स्त्री-पुरुष जब अपनी धुरी से हटते हैं तो एकदम ही गहरे-गन्दे महा गर्त में नहीं जा गिरते। एक दो और छोटे गढ़ों से होकर वहाँ पहुँचते हैं। निम्न मध्यवर्ग की सफ़ेद-पोशी को बाज़ार में भिखारी के रूप में आने तक एक-आध पीढ़ी से गुज़रना पड़ता है। फिर सत्ती को जैसा हम मोहल्ले के जीवन में पाते हैं, वह सत्ती अपने उस अन्यायी तथा-कथित चाचा को हथगाड़ी में लिये-लिये भीख नहीं माँग सकती, वह उसकी हत्या कर सकती है, उसको छोड़कर किसी दूसरे के साथ भाग सकती है। यदि काले बेंट वाला चाकू वह माणिक मुल्ला के घर छोड़ गयी है तो किसी दूसरे चाकू से अपना और उसका खात्मा कर सकती है। वह किसी के घर नौकरी कर सकती है। किसी कोठे पर भी बैठ सकती है, पर उस तरह की भिखारिन नहीं बन सकती।

रही लिल्ली और माणिक मुल्ला से उसका प्रेम और वह रोमानी कहानी जिसका मज़ाक उड़ाते हुए भी जिसे 'लिखने का मोह लेखक

सम्बरण नहीं कर सका, वह 'गुनाहों का देवता' और लगभग उसी जैसी शैली में लिखे हुए 'नदी के द्वीप' की याद दिलाती है। तन्ना के जीवन की कहानी पढ़ते हुए बड़ी तकलीफ़ होती है, पर यह तकलीफ़ तो निम्न मध्यवर्ग के जीवन को जानने वाले का सहज भाग्य है। भारती ने हास्य का सहारा लेकर पाठक की उस तकलीफ़ को कम करने की कोशिश की है, पर यहाँ वे सफल नहीं हुए, क्योंकि वह हास्य तकलीफ़ को कम करने के बदले बढ़ाता है। पर कदाचित यही लेखक को अभीष्ट है।

भारती अपने इस उपन्यास में दोराहे पर खड़े हैं। वे ऐसे लेखक सरीखे हैं, जिसे प्रेमचन्द भी अच्छा लगता है और प्रसाद भी, जो प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों का अनुकरण करना चाहता है—दोनों के दृष्टिकोण और दृष्टिपथ में जो अन्तर है उसको जानते हुए भी! जो अभी तय नहीं कर पाता कि उसे अन्ततोगत्वा कौन सा दृष्टिकोण और दृष्टिपथ अपनाना है।

२६ मार्च १९५२

क़ैद और उड़ान—एक प्रत्यालोचना

प्रिय शिवदान जी,

'आलोचना' के पहले अंक में श्री विश्वम्भर 'मानव'[1] द्वारा की गयी अपने दो नाटक-संग्रहों—'क़ैद और उड़ान' तथा 'आदि मार्ग' की आलोचना पढ़ी। जहाँ मैं इस आलोचना को लिखने के लिए लेखक का और उसे छापने के लिए आपका आभारी हूँ, वहाँ मैं इस सिलसिले में दो-एक बातें भी कहना चाहता हूँ।

जब से मेरे कुछ नाटक विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में लगने शुरू हुए हैं, तब से उनके सम्बन्ध में कई तरह की प्रशंसाएँ या आलोचनाएँ मुझे पढ़ने को मिलती रहती हैं। उनमें से किसी का उत्तर देना मैंने कभी इसलिए आवश्यक नहीं समझा कि उन आलोचनाओं की स्थूलता और नाटक के सम्बन्ध में आलोचकों का उथला ज्ञान स्वतः सिद्ध होता है।

---

1. हिन्दी के एक प्रसिद्ध आलोचक

जहाँ तक रंगमंच के ज्ञान का सम्बन्ध है, इसमें हिन्दी के आलोचकों का अधिक दोष नहीं। हिन्दी का नया रंगमंच अभी जन्म ले रहा है और यदि आलोचक उसकी आवश्यकताओं और यथार्थताओं से अनभिज्ञ हैं तो कोई बड़ी बात नहीं, किन्तु बिना किसी नाटक का गहन अध्ययन किये हुए, उस पर चन्द पंक्तियाँ घसीट डालना कोई बहुत अच्छी बात नहीं। पर मानव जी गम्भीर आलोचक हैं, अपनी ज़िम्मेदारी के प्रति जागरूक हैं और आपकी 'आलोचना' एक बड़े उद्देश्य को लेकर निकली है, इसलिए मैंने मानव जी की इस आलोचना के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखकर अपना दृष्टिकोण भी पाठक के सामने रखना आवश्यक समझा है।

जहाँ तक 'क़ैद और उड़ान' के पहले नाटक 'क़ैद' का सम्बन्ध है, मानव जी ने उस पर सबसे अधिक लिखा है, जिससे मैं समझता हूँ कि कम-से-कम उसे उन्होंने ध्यान से पढ़ा है और उसका कोई दोष उनकी दृष्टि से नहीं बचा। गुण की बात इसलिए नहीं करता कि वे उसमें कोई गुण नहीं ढूँढ़ पाये।

मैं स्वयं उक्त नाटक लिखने के बाद उससे सन्तुष्ट न था। आज भी नहीं हूँ, यद्यपि श्री जगदीशचन्द्र माथुर और श्री सुमित्रानन्दन पंत उसे मेरा सबसे अच्छा नाटक मानते हैं और उसकी प्रशंसा में मुझे इतने पत्र मिले हैं जो एक अच्छे-भले लेखक का दिमाग़ ख़राब कर सकते हैं। 'क़ैद' को लिखने में लगभग तीन वर्ष लग गये। मैंने इसे कई बार लिखा और इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटक मँज-सँवर कर कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हो गया है, पर उसमें कुछ ऐसी घुटन, कुछ ऐसी उदासी, कुछ ऐसा अँधेरा आ गया जिसके पार कोई भी रोशनी की किरण दिखायी नहीं देती। जाने अथवा अनजाने में यह नाटक ग़ालिब के शेर :

क़ैदे हयातो-बन्दे ग़म, असल में दोनों एक हैं,
मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाये क्यों ?[1]

की तफ़सीर हो गया है। यह ठीक है कि अप्पी नायिका होने के नाते उस क़ैद की सबसे बड़ी शिकार है और उसका ग़म उसके जीवन के साथ जायगा। पर ध्यान से देखा जाय तो प्राणनाथ या दिलीप या वाणी कोई भी उससे मुक्त नहीं, अपनी परिस्थितियों और उससे जनित ग़म से नजात उनमें से किसी के भाग्य में नहीं। शायद यही कारण था कि उर्दू में इस नाटक का नाम 'क़ैदे-हयात'—जीवन कारा—रखा गया। हिन्दी में जीवन-कारा इसलिए न रखा जा सका कि ग़ालिब के उस शेर की रियायत से उर्दू में उन शब्दों को जो अर्थ मिल गये हैं, वे हिन्दी को मुयस्सर नहीं। हिन्दी में 'जीवन-कारा' शीर्षक कुछ आध्यात्मिक-सा प्रतीत होता है, जब कि नाटक घोर सत्य पर अवलम्बित है।

मुझे 'क़ैद' से इसलिए असन्तोष न था कि उसमें कला की दृष्टि से कोई त्रुटि रह गयी अथवा वे दोष रह गये जिनकी ओर मानव जी ने संकेत किया है। नाटक के मुख्य पात्र मेरे सामने थे। काश्मीर के उस सौन्दर्य के बीच, उनके जीवन की उदास परिस्थितियाँ और तज्जनित दुख मेरे सामने था और मैंने उसका (कम-से-कम जहाँ तक उस जीवन के दुख, घुटन और उदासी का सम्बन्ध है) हू-ब-हू चित्रण कर दिया। असन्तोष हुआ मुझे नाटक के उतने उदास और सँकरी अंधी गली के-से अवरुद्ध अन्धकार को देखकर। मानव जी ने जो बात सुझायी है, वैसी मुझे पहले न सूझी हो अथवा और किसी ने न सुझायी हो, ऐसी बात नहीं। उस समय नाटक के तीन अन्त मेरे सामने आये :

[1] ज़िन्दगी की क़ैद और ग़म का बन्धन वास्तव में दोनों एक ही चीज़ हैं। जब तक आदमी जीता है, वह ग़म से नजात क्यों पाये ?

१. अप्पी अपने बच्चों को चूम ले और उन्हीं में अपने नये जीवन की आशा को देखे।

२. दिलीप ने उसे अपरूपता में सौंदर्य देखने का जो पाठ पढ़ाया है, उसके अनुसार वह अपने वातावरण के दुख में सुख की आभा ढूँढ़े।

३. जो कि अब है।

पहले दोनों अन्त इसलिए मुझे ग्राह्य न हुए कि वे मुझे झूठे लगते थे। अप्पी जवान है, दिलीप की याद को वह भूल नहीं पायी। उसका घाव अभी तक हरा है। उस घाव ने उसके जीवन को एकदम शिथिल कर दिया है। अपने पति से (जिसके हृदय की सुन्दरता के बावजूद जिसके शरीर से वह तीव्र घृणा करती है) वह अभी तक घुल-मिल नहीं सकी, चूँकि घुल-मिल नहीं सकी, इसलिए उसके द्वारा पाये गये अपने बच्चों से वैसा स्वस्थ प्यार नहीं कर सकी, जैसा कि किसी अपने पति की प्रेयसी और पति को सचमुच अपना प्रिय समझने वाली नारी करती है। उसने पहले दिलीप से प्यार न किया होता तो वह अपने पति से घृणा करने के बावजूद अपने बच्चों से प्यार करती। पर उसका प्यार तो बस पड़ा है। जिस स्थिति में कि वह है, वह अपने बच्चों से भी स्वस्थ प्यार नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में नाटक के अन्त में प्रबल मानसिक आघात सहने पर, अपने छोटे-से सुख-स्वप्न को यों अपनी रकीब के हाथों छिन्न-भिन्न होते देख, उसका सहसा अपने पति अथवा बच्चों से प्यार करने लगना अथवा कोई आदर्शपूर्ण-सी बात कहकर प्रसन्न हो जाना मुझे बड़ा अस्वाभाविक और छिछला लगता था। जिस आचरण को मानव जी ने अस्वाभाविक कहा है, मेरे निकट वह और केवल वही स्वाभाविक है। यह ठीक है कि कुछ वर्ष बीत जाने पर, जब अप्पी के घाव को समय का मरहम भर देगा; जब उसके पति के हृदय का सौन्दर्य उसकी शारीरिक बदसूरती

पर हानी हो जायगा, जब वह स्वयं उतनी सुन्दर न रहेगी, वह उस बदसूरती में निश्चय ही खूबसूरती देखेगी, उन्हीं बच्चों को प्यार करेगी और दिलीप ने जिस जीवन-दर्शन को अपनाया है अथवा जिसे वह अपनाने की कोशिश कर रहा है, उसे कदाचित अप्पी भी अपना लेगी (और इसलिए वह जीवन दर्शन नाटक में आया है) लेकिन वह तो बाद की बात है। नाटक अप्पी के सारे जीवन का चित्र उपस्थित नहीं करता, वह केवल उस एक दिन की झाँकी देता है, जब अप्पी सहसा अपनी पुरानी स्फूर्ति पाकर उसे फिर खो देती है। उस क्षण उसका आचरण झुँझलाहट में अपने बच्चे को दो चाँटे मार देने अथवा बिलकुल चुप हो जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

नाटक का उद्देश्य अप्पी के सारे जीवन को दिखाना नहीं। जीवन के किसी दर्शन का प्रतिपादन करना भी नहीं। केवल एक सामाजिक कुरीति के दुष्परिणाम और नाटक के पात्रों की सम्भावनाओं की ओर पाठकों अथवा दर्शकों का ध्यान आकर्षित करना है। वे क्या थे, क्या हो सकते थे और क्या हो गये? अप्पी उतनी पढ़ी-लिखी चाहे न हो पर वह सुघड़ और संस्कृत है, वह बच्चों की देख-रेख जानती है, वह अपने वातावरण को सुन्दर बनाने की प्रतिभा रखती है किन्तु वह ऐसा नहीं कर सकी। क्यों? इसी 'क्यों' का उत्तर यह नाटक देता है। और अप्पी में प्राणनाथ और दिलीप शामिल हैं।

एक और बात है, जिसकी ओर मानव जी ने ध्यान नहीं दिया। वह है दिलीप और अप्पी के मानसिक स्तरों का अंतर। नाटक में ऐसे संकेत हैं (जो ध्यान से पढ़ने पर ही जाने जा सकते हैं) कि अप्पी का सामाजिक स्तर चाहे दिलीप के बराबर हो, पर मानसिक स्तर दिलीप से नीचा है। यह ठीक है कि वह कविता करती रही है, लेकिन उस की वह कविता तुकबन्दी-मात्र थी। वैसी तुकबन्दी जैसी कि नयी

उमर के पहले प्रेम में बहुत-सी लड़कियाँ करने लगती हैं। दिलीप उसका दिल बढ़ाने को उसकी प्रशंसा भी कर देता रहा है, पर इसका यह मतलब नहीं कि उसका मानसिक स्तर दिलीप के बराबर है। यही कारण है कि जहाँ दिलीप ने अपना जीवन-दर्शन बना लिया है, वह नहीं बना पायी।

मानव जी पूछते हैं—"अप्पी को क़ैद किसने किया ?" और स्वयं ही उत्तर देते हैं कि "उसने स्वयं !" मानव जी की यह धारणा भी उनकी उसी भूल का परिणाम है जो वे दोनों के मानसिक स्तर को एक समझने में करते हैं। पहली बात यह कि यदि वह दिलीप से विवाह करना भी चाहती तो न हो सकता था। दिलीप के अभिभावक, उसके बड़े भाई बड़े क्रूर थे और उस रिश्ते के विरुद्ध थे और फिर अप्पी न इतनी पढ़ी-लिखी थी और न इतनी स्वतंत्र कि वह प्राणनाथ से अपने विवाह का विरोध करती। नाटक में वह कहीं भी बी० ए०, एम० ए० अथवा विलायत पास नहीं दिखायी गयी। (हमारे यहाँ तो बी० ए०, एम० ए० तक माता-पिता की इच्छाओं के आगे हथियार डाल देती हैं) वह साधारण शिक्षित लड़की है, जो दिलीप से प्यार करती है और भारतवर्ष की लाखों लड़कियों की तरह बिना विरोध किये क़ैद में बन्द हो जाती है।

रही बात 'जीवन में सुख के लिए प्रयत्न करने की !' तो यह माना कि समाज जीवन की 'सारी सुविधाएँ जुटाकर, स्थितियों को एक दम मनोनुकूल करके', हमारे सामने न रखे, लेकिन वह चक्की का पाट भी हमारे गले में न बाँधे, ऐसी तो वांछा की ही जा सकती है। मनोनुकूल साथी की इच्छा स्वतन्त्र समाज में एक बड़ी बुनियादी इच्छा है। क्या मानव जी सोचते हैं कि मनोनुकूल साथी पाने के बाद जीवन का संघर्ष खत्म हो जाता है अथवा जीवन की कोई समस्या नहीं रहती ? संघर्ष तो वैसा ही रहता है, हाँ मनोनुकूल साथी के साहचर्य में उसे

झेलने की शक्ति बढ़ जाती है और संघर्ष का दुख भी सुख देता है। समाज जब प्रतिकूल साथी के रूप में, जिससे मन तीव्र घृणा करता है, एक बड़ा चक्की का पाट गले में बाँध देता है तो उस भार को ढोने में जीवन की कितनी शक्ति (जो जीवन को दूसरी उपादेय सरगर्मियों में लग सकती थी) नष्ट हो जाती है, मानव जी ने कदाचित् इसकी कल्पना नहीं की। किन्तु इसी बात की ओर संकेत करने के लिए मैंने यह नाटक लिखा था और उसकी घुटन, उसकी उदासी और अँधेरे के बावजूद मैं उसे छापने पर विवश हुआ, क्योंकि अप्पी ही का नहीं, सहस्रों दूसरी लड़कियों का जीवन भी उसी तरह कुण्ठित है और यह हमारे समाज का घोर अँधेरा, कटु सत्य है।

रहा प्राणनाथ, तो मानव जी को शिकायत है कि उसे 'किंग कांग' क्यों कहा गया, विशेषकर उस रूप में जब उसका चित्र नाटक में उभर उठा है। यदि कोई साधारण पाठक यह आपत्ति करता तो मुझे खेद न होता, पर मानव जी-जैसे गम्भीर आलोचक को उसका कारण ढूँढ़ना चाहिए था। यह सोचकर कि नाटककार का उद्देश्य उसे वैसा चित्रित करने का नहीं था और वह अनजाने में ऐसा कर गया है या कि उनकी आलोचना-शक्ति ही ने उसे खोज निकाला है अथवा कोई इसी तरह की बात सोचकर मनमानी आलोचना कर देना लेखक के साथ अन्याय करना है। प्राणनाथ से लेखक को सहानुभूति है, इसलिए उसके चित्र को उसने ऊँचा दिखाया है। पाठक के हृदय में उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो, इस के लिए छोटे-मोटे संकेत बड़े सूक्ष्म ढंग से नाटक में रखे गये हैं। पर आलोचक के लिए यह देखना ज़रूरी है कि लेखक का दृष्टिकोण अप्पी का दृष्टिकोण नहीं और न अप्पी का दृष्टिकोण लेखक का दृष्टिकोण है। न लेखक अप्पी में आत्मसात् है, न अप्पी लेखक में। लेखक प्राणनाथ के जिन गुणों को देखता है, अप्पी नहीं देख पाती। उसके सामने सबसे बड़ी सच्चाई

यह है कि उसका पति बेहद कुरूप है और धन के बल पर उसे उसके दिल्ली के सुख-भरे वातावरण से उठा लाया है। अप्पी के माता-पिता उसके निकट नहीं, जिन पर वह अपना गुस्सा उतारती। इसलिए उसका सारा क्रोध प्राणनाथ पर उतरता है। वह समझती है कि उसके सौन्दर्य पर मिटकर, बिना अपनी उमर और बदसूरती का ख़याल किये, उसके माँ बाप को कई तरह से बहका कर (भानजी के जीवन और बहन की दौलत के किसी दूसरी लड़की के हाथों बरबाद होने की बात करके) वह उसे दिल्ली से इस सूने प्रदेश में उठा लाया है और वह उसके इस कृत्य में 'किंग कांग' की बर्बरता देखती है।

पर लेखक अप्पी नहीं। वह प्राणनाथ के कुरूप तन में भी रूप की प्यास और उस प्यास के आगे उसकी बुद्धि की विवशता देखता है। वह उस मानव की बर्बरता नहीं, उसके हृदय की कोमलता और उदारता को भी देखता है। वह उस स्थिति के लिए केवल उसे दोषी नहीं समझता, उस सामाजिक व्यवस्था को दोषी समझता है जिसके कारण ऐसा अन्याय सम्भव हुआ। लेखक के सामने यह समस्या है कि वह अप्पी को अप्पी दिखाये, प्राणनाथ को प्राणनाथ और दिलीप को दिलीप। आलोचक को यह देखना चाहिए था कि नाटक लिखने में नाटककार का उद्देश्य क्या था और वह उसमें कहाँ तक सफल या असफल रहा। वह उद्देश्य अच्छा है या बुरा, इस पर वह जो भी चाहे, बाद में कह सकता है।

मैं 'क़ैद' ही के बारे में इतना कह गया कि और नाटकों तथा उनकी आलोचना के सम्बन्ध में कुछ कहते हुए मुझे बड़ी झिझक होती है। सारी आलोचना पढ़ने पर लगता है कि मानव जी ने नाटक बड़ी ही सरसरी दृष्टि से देखे हैं। 'छठा बेटा' की कहानी बताते हुए उन्होंने लिखा है—"एक दिन सहसा तीन लाख की लाट्री उनके नाम निकल आती है। पाँचों लड़के अपना व्यवहार बदल देते हैं

और पिता को शराब पिलाकर सारा रुपया अपने नाम लिखा लेते हैं। पैसा न रहने पर पिता को साथ रखने की समस्या फिर उठती है। ठीक ऐसे दुर्दिन में आकर उनका छठा बेटा उनकी सहायता करता है। यह नाटक मनुष्य की घोर स्वार्थ-भावना पर प्रकाश डालता है।"

मुझे ये पंक्तियाँ पढ़कर हँसी आ गयी। यदि ये मानव जी की लिखी न होतीं और मानव जी अपने-आपको ज़िम्मेदार आलोचक न समझते तो मैं इनका नोटिस तक न लेता।

नाटक में कोई ऐसी बात नहीं होती। न तीन लाख की लाट्री निकलती है और न दुर्दिन में छटा बेटा आकर उनकी सहायता करता है—वह सब तो पंडित बसन्तलाल स्वप्न में देखते हैं।

और न यह नाटक मनुष्य की घोर स्वार्थ-भावना पर ही प्रकाश डालता है। पंडित बसन्तलाल के पुत्रों में कोई बड़ा स्वार्थहीन भी होता तो शायद भिन्न आचरण न कर पाता। नाटक यह बताता है कि पूत यदि कपूत होते हैं तो क्यों होते हैं? और छठा बेटा तो नाटक में कहीं नहीं आता। वह तो मानव की उस अभिलाषा का प्रतीक है जो कभी पूरी नहीं होती। अच्छा होता यदि ज़िम्मेदार आलोचक की तरह मानव जी ने नाटक को दो-एक बार पढ़ा होता (क्योंकि उनकी आलोचना ही नहीं, प्रशंसा भी—जैसे भँवर की—इसी प्रकार हास्यास्पद और दिलचस्प है) और छः नाटकों को—जिनको लिखने में लेखक ने छः-सात वर्ष लगाये—छः-सात घंटे में पढ़कर निबटाने की अपेक्षा एक ही नाटक को ध्यान से पढ़कर वे उसके गुण-दोष या यदि गुण नहीं तो केवल दोष बताते।

पाठक और लेखक की अपेक्षा आलोचक का कर्तव्य कठिन है, इसीलिए वह ज़्यादा श्रम और ज़िम्मेदारी की माँग करता है। मैं आलोचना की इस आलोचना के लिए मानव जी से तथा सम्पादक के नाते आपसे क्षमा माँगता हूँ। इस चिट्ठी को लिखने में मेरा उद्देश्य

लेखक के नाते अपना दृष्टिकोण पाठकों के सामने रखना है। दुर्भाग्यवश मुझे जगह की तंगी का डर है, नहीं तो मैं स्वयं बताता कि 'क़ैद' में कौन-सी ऐसी बात रह गयी, जिससे कला की सम्पूर्णता के बावजूद मैं इस नाटक से असन्तुष्ट रहा और मैं तब तक इसे छपने को न दे सका, जब तक मैंने 'उड़ान' न लिख लिया।

सस्नेह,

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

पान फूल—एक समालोचना

'पान फूल' के लेखक की सबसे पहली कहानी शायद 'मुंशीजी' मैंने पढ़ी थी। तभी लगा था कि यह लेखक यदि लिखता गया तो हिन्दी में अपना स्थान बना लेगा। 'मुंशीजी' हर लिहाज से फ़र्स्ट रेट कहानी हो, ऐसी बात नहीं, अन्त प्रेमचन्द के 'कफ़न' की याद दिलाता है और प्रगट है कि उस अन्त का श्रेय प्रेमचन्द को है, लेकिन 'मुंशीजी' के चरित्र-चित्रण में मार्कण्डेय ने जिस बारीकी से काम लिया है, वह याद के पर्दे पर मुंशीजी की एक धुँधली-सी तस्वीर सदा के लिए छोड़ जाती है। और यह बात अपने में काफ़ी महत्व की है, क्योंकि रोज़ कितनी कहानियाँ छपती हैं, पढ़ी जाती हैं, पर कितनी हैं जो मन पर अपना असर छोड़ जाती हैं!

'पान फूल' के हाथ में आते ही मैं पहले यही कहानी फिर पढ़ गया और कुछ वैसे ही भाव फिर मन में उठे। मार्कण्डेय की लेखनी में चादर-से चौड़े छोटे नाले की सरसराती, फिसलती हुई गति है।

तल के छोटे-छोटे उपल-खंड और सिकता-कण दिखायी देते हैं, पर मन उस सरसराती-सी चादर के साथ फिसलता चला जाता है।

जहाँ तक दूसरी कहानियों का सम्बन्ध है, मुझे 'गुलरा के बाबा', 'भूरा' और 'सात बच्चों की माँ' सबसे अच्छी लगीं। 'गुलरा के बाबा' में यथार्थ कितना है और आदर्श कितना, यह मैं शहर की धुएँ-धुंध से भरी संकुचित दुनिया में रहने वाला क्या जानूँ, लेकिन यह कहानी गाँवों की स्वच्छता, विशालता और सादालौही का आभास देती है। गाँव में ऐसे पात्र हैं, मैं नहीं जानता, पर मन चाहता है कि हों और मान लेता है कि हैं और इस विश्वास में सुख पाता है। बाबा की उदारता अन्त के निकट अनायास आँखों में सुख के आँसू ला देती है और कहानी का सुन्दर स्थल वह नहीं, जहाँ बाबा की जवानी में उसकी नंगी पिंडलियों और रान से चमेलिया आकर चिमट जाती है और बाबा अडिग रहते हैं, बल्कि वह है जैतू, जब बाबा अपने शत्रु की टूटी-टाँग का उपचार करते हैं। क्योंकि यह यथार्थ है और पहला आदर्श।

'भूरा', यदि उसमें स्थानीय शब्दों की भरमार न होती तो और भी सुन्दर बन जाती। खुले में बहती-बहाती और अपने दान से इर्द-गिर्द की खेतियाँ सैराब करती मदमाती नदी-सी भूरा स्वच्छ और पवित्र है। गाँवों की सादालौही उसकी सादालौही है और हठ उसका हठ। अन्त, जैसा कि मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियों में है ज़रा नाटकीय है। नाटकीय अन्त होना कोई बुरी बात नहीं, लेकिन यह सवाल मन में उठता है कि अपनी घोर कठिनाई और अपमान के समय उसने गिन्नियाँ क्यों न खोद निकालीं। इसका कारण पाठक जानना चाहता है।

'सात बच्चों की माँ' बड़ा ही दर्द भरा चित्र उपस्थित करती है और उसका अन्त तो बड़ा ही मार्मिक है।

'सवरइया' का उल्लेख मैंने पहली कहानियों में इसलिए नहीं किया

कि अपनी तमाम सुन्दरता के होते भी यह प्रेमचन्द के 'दो बैल' की याद दिलाती है। यों मार्कण्डेय ने उसे और भी मानवीय बना दिया है।

'पान फूल' और 'नीम की टहनी' बड़ी प्यारी दर्द-भरी कहानियाँ हैं। इनकी सादगी अनायास मन को पकड़ लेती है।

'वासवी की माँ' कहानी लीक से हट कर है। कोई दूसरा लेखक इसे अश्लील बना देता, पर मार्कण्डेय जैसे इसे लिखने में तलवार की धार पर चल गये हैं। पर जहाँ उन्होंने विधवा सीता को कहानी सुनाने से पहले खादी के कपड़े पहनाये हैं और बत्ती बुझा कर एक रहस्यात्मक वातावरण उपस्थित किया है, वहीं कहानी अवास्तविक हो गयी है। यह बात कि जब वासवी १७ वर्ष की होगी, विधवा सीता उसकी माँ के दुख की कहानी बतायेगी और बताकर चली जायगी, नाकाबिले-कबूल है। यथार्थ जीवन में ऐसा कम ही होता है। सीता के दिमाग़ में भी अगर कुछ फ़तूर होता तो वह यह सब कर सकती थी, पर जिस मालकिन की धरोहर को उसने इतने बरस पाला, उसे इस प्रकार छोड़ कर वह कैसे जा सकती थी।

मार्कण्डेय की इन कहानियों को पढ़ते हुए सहसा ऐसे तैराक का चित्र आँखों के आगे आता है, जो साहित्य के सागर में बड़ी तेजी से हाथ मारता हुआ अपने साथियों को पीछे छोड़ने की व्यग्रता से बढ़ा जा रहा है, लेकिन दिशा उसने अभी नहीं अपनायी; कभी इधर और कभी उधर वह बढ़ता है। दिशा पा ले तो साथियों को ही नहीं बहुत आगे बढ़े हुए तैराकों को जा ले। कला के प्रयोग, नयी बात को नये ढंग से कहने की बेचैनी, बोलियों के मुहावरों के प्रयोग की आतुरता, कई दिशाओं में वह बढ़ रहा है। लेकिन आशा है, यह व्यग्रता साबित-क़दमी से बदल जायगी और मार्कण्डेय अपनी कहानियों की [illegible] खूबी—गहरी मानवीयता से हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय होंगे।